आत्मानुभवी द्रव्यानुयोगी

उपाध्याय श्रीमद् देवचन्द्रजी म. द्वारा विरचित

अध्यात्म-प्रबोध

अपरनाम

देशनासार

अनुवादिका

शान्तरसनिमग्ना स्व. प्र. श्री ज्ञानश्री जी म. सा. की शिष्या

आगमज्योति प्रवर्तिनी श्री सज्जन श्री जी म. सा.

प्रकाशक

"श्री-पुण्य-सुवर्ण-ज्ञानपीठ"

जयपुर

वि. सं. २०४६ वैशाख पूर्णिमा

सम्पादिका
'दर्शनाचार्य आर्य्या शशिप्रभाश्री जी
आर्य्या प्रियदर्शना श्री जी

द्रव्य सहायक
स्व श्री सुजानमलजी सा० दुगड़ के सुपुत्र
श्री सुभाषचन्दजी सा दुगड (फतेहपुर)

प्राप्तिस्थान
श्री-पुण्य-सुवर्ण-ज्ञानपीठ
विचक्षण भवन
के जी बी का रास्ता जयपुर-३०२००३

जैन युवा परिषद्
३९७८-एम एस बी का रास्ता
जयपुर-३०२००३



मुद्रण
राजेश सुराना के निर्देशन में
दिवाकर प्रकाशन
A-7, अवागढ़ हाऊस, एम जी रोड आगरा २८२००२
दूरभाष ९८३२८

मूल्य-१०/-रुपया सिर्फ

॥ ॐ नमः ॥

समर्पण

परम श्रद्धेया !

संयम, त्याग और ज्ञानकी पवित्र त्रिवेणी

स्वाध्याय-ध्यान-जाप का अद्‌भुत संगम

श्रद्धाशील और सरलता की प्रतिमूर्त्ति

अखण्डब्रह्मचर्य, दीर्घ संयम और आगम ज्ञान की साक्षात् प्रतिमा

स्वर्गीया गुरुवर्या प्रवर्तिनी पदविभूषिता

पूज्येश्वरी श्रीमती ज्ञानश्री जी महाराज

के कर कमलों में

सादर समर्पित

चरणरजकण—

प्र. सज्जनश्री



आगम ज्योति प्रवर्तिनी सज्जनश्रीजी म.

प्रकाशकीय

श्री सुविहित खरतरगच्छीय जैन परम्परा मे द्रव्यानुयोगी देवचन्द्रजी म. का स्थान सर्वोपरि है, वे एक सर्वमान्य आत्मार्थी स अतिशयज्ञानी आत्मदृष्टा और द्रव्यानुयोग के महान् विद्वान थे। सम्राट अकबर को प्रतिबोध देने वाले चतुर्थ दादा गुरु युगप्र जिनचन्द्र सूरि महाराज की विद्वदशिष्य परम्परा मे समदर्शी महावि निर्मलचारित्रनिष्ठ मुनिराज थें। सभी गच्छों के प्रति आत्मीयत समभाव होने से आपके पास तपागच्छीय मुनि श्री उत्तमविजय पद्मविजय जी म. आदि अनेक मुनिजन आगमों का अध्ययन क लिए आते थे; और आप बिना किसी भेदभाव के उन्हें ज्ञानदा करते थे।

श्रीमद् के द्वारा रचित सभी ग्रन्थों को प्रकाशित करने का प्रथ योगनिष्ठ आचार्य श्रीमद् बुद्धिसागर सूरिजी म० को है जिन्होंने देवचन्द्र जी म. की सद्‌गुणों और विद्वतापूर्ण कृतियों से प्रभावित उन पूज्येश्वर के प्राप्त सभी साहित्य को अध्यात्म ज्ञान प्रसारक द्वारा दो भागों मे प्रकाशित करवाकर मुमुक्षजनों पर बड़ा भारी किया।

तत्पश्चात् तो चौबीसी, बीसी, अतीत चौबीसी अध्यात्म अष्टप्रवचनमाता, पंचभावना; प्रभंजना, गजसुकुमाल आदि की इत्यादि अनेक कृतियाँ नाहटा जी द्वारा एवं वर्तमान चौबीसी स्नात्रपूजा का अनुवाद जो कि जरगड़ जी द्वारा किया गया है जिनदत्तसूरिसेवा संघ द्वारा प्रकाशित हो चुके हैं। श्रीमद् देवचन्द्र का स्वोपज्ञ बालावबोध का परिमार्जित साहित्यिक भाषा मे हिन्दी आगम ज्योति प्रवर्तिनी महोदया विदुषीवर्य्या श्री सज्जनश्री जी म. द्वारा अनुदित हो चुका है जिसका प्रकाशन प्राकृत भारती की ओर रहा है।

प्रस्तुत ग्रन्थ अध्यात्म प्रवोध अपरनाम देशनासार का अनुवाद भी परम श्रद्धेया पूज्या प्रवर्तिनी महोदया श्री सज्जन श्री जी म सा के द्वारा बहुत ही परिमार्जित परिष्कृत व प्राञ्जलभाषा में किया गया है जिसका प्रथम प्रकाशन नाहटा ग्रन्थमाला की ओर से प्रकाशित हुआ था किन्तु स्वाध्याय प्रेमियों की आवश्यकता को ध्यान में रखते हुये पूज्य आचार्य श्री कान्तिसागर सूरीश्वरजी म सा के शिष्य विद्वद्वर गणिवर्य्य श्री मणिप्रभसागर जी म सा एवं प्रधान पद विभूषिता पू श्री अविचलश्री जी म सा की सान्निध्यता में हो रहे पू प्रवर्तिनी श्री सज्जन श्री जी म सा के दीक्षा स्वर्ण जयन्ती के उपलक्ष में यह द्वितीय संस्करण पुण्य-सुवर्ण-ज्ञानपीठ जयपुर के द्वारा प्रकाशित किया जा रहा है ।

इसी के साथ "द्रव्यप्रकाश" (हिन्दी) का हिन्दी अनुवाद भी जिसमें षट्द्रव्यों का विशद विवेचन है और जो पूज्या प्र श्री सज्जन श्री जी म सा के द्वारा सुन्दर व्यवस्थित व साहित्यिक भाषा में लिखा गया है उसे भी इसी पुस्तक के साथ संलग्न कर रहे है ।

इस प्रकाशन में फतेहपुर निवासी स्व सेठ श्रीमान् सुजानमलजी सा दुगड की स्मृति में उनकी धर्मपत्नी धर्मनिष्ठा श्रीमती किरणदेवी तथा पुत्र श्री सुभाषचन्द जी सा दुगड एवं पुत्रवधु श्रीमती मजुलाजी आदि समस्त दुगड परिवार ने अपना प्रशसनीय आर्थिक सहयोग प्रदान कर ज्ञान प्रसार का अपूर्व लाभ लिया है ।

आशा ही नहीं अपितु पूर्ण विश्वास है—

पाठकगण इसके पठन-पाठन एवं स्वाध्याय से आत्माभिमुखी बन आत्मानुभूति करेंगे, और ऐसे ग्रन्थों के प्रकाशन के लिए हमे उत्साही करेंगे ।

श्री पुण्य-सुवर्ण ज्ञानपीठ जयपुर

दो शब्द

अनादि–कालीन संसार षड्द्रव्यों का समूह है । इसी को लोक नाम से अभिहित किया जाता है । धर्मास्तिकाय आदि षड्द्रव्य है । चतुर्दश रज्जु–प्रमाण लोक मे छः हों द्रव्य भरे पड़े है । लोकाकाश का एक भी प्रदेश ऐसा नहीं, जिनमें इन द्रव्यों का अस्तित्व न हो । धर्म–अधर्म आकाश, काल और पुद्‍गल–जड़ है । मात्र जीव चेतन द्रव्य है । जीव दो प्रकार के होते हैः—सिद्ध व संसारी । जो कर्म पुद्‍गल से सर्वथा मुक्त हो गये है, वे सिद्ध है । कर्मो से आबद्ध जीव संसारी कहलाते है ।

संसार भ्रमण करते करते, कर्मो को भोगते–भोगते जब कर्मभार अत्यन्त हल्का हो जाता है तब जीव को मानव शरीर, आर्यक्षेत्र आदि दश–दुर्लभ दशाएँ प्राप्त होती हैं । संसारी जीवों की व स्वयं की भी शारीरिक, मानसिक बौद्धिक आदि विभिन्नताएँ, विविधताएँ और विचित्रताएँ जिज्ञासा की जननी हैं । विचार–शील मानव जिज्ञासा का प्रादुर्भाव होने पर बाल्यावस्था मे माता–पिता द्वारा, किशोरावस्था में शिक्षकों से, तारुण्य मे समान वयस्कों से स्वल्प समाधान पाता है । पूर्ण समाधान तो सर्वज्ञ तीर्थंकर देवों से ही प्राप्त होता है, किन्तु सर्वज्ञों का सद्‍भाव सदा नहीं रहता । भरत ऐरवत क्षेत्र मे तो एक कोड़ाकोड़ी सागरोपम से भी कम समय सर्वज्ञ विद्यमान रहते हैं । तदनन्तर बहुश्रुत आचार्यादि ही तीर्थंकर देवों के उपदेशों को प्रचारित कर भव्यजनों का उपकार करते हैं । उनकी जिज्ञासाओं का समाधान भी करते है और मार्गदर्शन करके साधना की प्रेरणा करते हुये मुक्ति मार्ग पर आरूढ़ कर देते है, तथा साधकदशा मे अपायभूत–कषाय, प्रमाद आदि से प्रभावित न हो, इस आशय से साधक को सदैव सारणा, वारणा, प्रेरणा, प्रतिप्रेरणा इत्यादि देते रहते हैं । स्वयं भी उसी पथ के पथिक होने से और शासनसंचालक व सरक्षक होने के कारण श्रुतसाधना–भगवद्‍वाणी को तत्कालीन भाषाओं में युगानुकूल वातावरण के योग्य विधाओं में सन्दृब्ध

करते रहते हैं । भगवान् महावीर प्रभु के निर्वाण के पश्चात् इन ढाई हजार वर्षों में निर्मित जैन साहित्य इसका साक्षी है । अधिकाश काल का भोग बन जाने पर भी अभी तक यथेष्ट रूप में काफी साहित्य समुपलब्ध है ।

मनीषी जैनाचार्यो ने प्राय जैन वाङ्मय का निर्माण लोक भोग्य भाषा में किया है । चार अनुयोग—चरणकरणानुयोग, धर्मकथानुयोग, गणितानुयोग और द्रव्यानुयोग मे सारा जैन वाङ्मय विभक्त है । इनके अतिरिक्त व्यावहारिक और व्याकरण, कोष, न्याय, अलंकार आदि की रचना मे भी वे पश्चात्पद नहीं रहे । मूल आगमों पर निर्युक्तियाँ, भाष्य, चूर्णियाँ, वृत्तियाँ आदि विपुल प्रमाण में निर्मित्त कर शास्त्रों का रहस्य प्रस्फुटित किया, एव मन्दबुद्धिजनों के हितार्थ आगमों के रहस्य को हृदयङ्गम कराने वाले प्रकरणादि ग्रन्थों की रचना कर उन्होंने महद् उपकार किया है ।

इन्हीं महा-मनीषियों की परम्परा में श्रीमद् देवचन्द्र गणिवर्य का भी अपना एक विशिष्ट स्थान है । द्रव्यानुयोग के अनन्त ज्ञाता के रूप मे उस समय ये विख्यात थे । इन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना की है । इनके विशाल साहित्य को सर्वप्रथम अध्यात्मयोगनिष्ट स्व आचार्य श्रीमद् बुद्धिसागरसूरि महाराज ने सग्रहीत कर दो भागों मे प्रकाशित करवाया था । उसके बाद तो इनके ग्रन्थ आगमसार, अतीत चौवीसी, स्तवन, वीशी स्तवन, अष्ट प्रवचन माता की सज्झाये, अनेक अन्य सज्झायें, अध्यात्म-गीता, स्नात्रपूजा सार्थ आदि कई ग्रन्थ प्रकाश मे आ चुके है इन ग्रन्थों के हिन्दी अनुवाद भी प्रकाशित हो चुके हैं और कई प्रकाशित होने वाले है ।

प्रस्तुत अध्यात्म-प्रबोध अपरनाम देशनासार अद्यापि पर्यन्त अप्रकाशित ही था । उपयुर्क्त प्रकाशनों मे यह मुद्रित नही हो सकी थी । पुरातत्त्व के अनुसन्धाता सुप्रसिद्ध विद्वान् श्री अगरचन्द जी नाहटा को इसकी सम्प्राप्ति श्री हित्सत्क-ज्ञान भण्डार के देखते देखते आकस्मिक रूप से हो गयी ।

विक्रम सं. २०२५ का मेरा चातुर्मास बीकानेर में हुआ । श्री नाहटा जी जब भी दर्शनार्थ आते थे, हम लोगों को कुछ न कुछ आध्यात्मिक प्रेरणा देते रहते थे और नवीन रचना न कर सकें तो अनुवाद ही करिये । ऐसा आग्रह करते रहते थे । देशनासार लेकर वे मेरे पास आये और इस पर विवेचन लिखने का अनुरोध किया । मैंने ग्रन्थ को देखकर अनुवादमात्र करने की इच्छा प्रकट की, यद्यपि द्रव्यानुयोग के विषय में मेरी अभिरुचि बाल्यावस्था से ही रही है, फिर भी प्रस्तुत ग्रन्थ प्राकृत-संस्कृत में है और स्वोपज्ञ वृत्ति सहित है, देखकर मैं आश्वस्त हुयी । व्यवस्ततावश इसके अनुवाद का कार्य बीकानेर व तदनन्तर फलोधी चातुर्मास में नहीं हो सका । २०२७ के दिल्ली चातुर्मास मे यह कार्य पूर्ण हो सका । पाण्डुलिपि जो श्री नाहटा महोदय करवा के मेरे पास लाये थे उसमें काफी अशुद्धियाँ थीं, फिर भी यथा-साध्य शुद्ध करके मैंने भावानुवाद करने का प्रयास किया है ।

मेरा यह प्रथम अनुवाद कार्य है । सर्वज्ञ आगम और ग्रन्थकार पूज्यवर के आशय के विरुद्ध कहीं भी कुछ लिख दिया हो अथवा समझ मे न आने के कारण गल्ती रह गयी हो तो मिथ्यादुष्कृत देती हूँ । विद्वज्जन सुधार कर पढ़ें और मुझे भी अवगत करने की कृपा करें ।

अध्यात्मप्रेमी पाठक पाठिकाएँ और स्वाध्याय करने वाले मुमुक्षुजन इस कृति से लाभ उठावें, आत्मबोध प्राप्त करें, इसी शुभाकांक्षा के साथ विरमित होती हूँ ।

वीर शासन सेविका
सज्जनश्री

पादलिप्तपुर
आश्विनवदि ५ सोम र. २०३३

अनुक्रमणिका

आत्मानुभवी द्रव्यानुयोगी
उपाध्याय श्रीमद् देवचन्द्रजी म. द्वारा विरचित

अध्यात्म-प्रबोध

अपरनाम

देशनासार

अनुवादिका

शान्तरसनिमग्ना स्व. प्र. श्री ज्ञानश्री जी म. सा. की शिष्या
आगमज्योति प्रवर्तिनी श्री सज्जन श्री जी म. सा.



• ॐ नमस्सिद्धम् •

गणिवर्य श्रीमद् देवचन्द्रजी महाराज विरचित

अध्यात्म-प्रबोध

अपरनाम

देशनासार

(स्वोपज्ञवृत्तियुतः)

प्रणम्य श्रीमहावीरं सिद्धार्थकुलभास्करम् ।
दुर्वादिद्विपविद्धंसकरणे पञ्चाननोपमम् ।१।
अनेकान्तानन्तगुणं निर्बाधं पारिणामिकम् ।
वस्तुतत्वमनादीनं स्वात्मधर्ममह श्रये ।२।
श्रीदीपचन्द्र पाठक चरणाम्बुजसेवनाच्च यल्लब्धम् ।
गणधर रचितं सूत्रं तदनुसारेण वक्ष्यामि ।३।
स्वात्मोपकृतिहेतो र्यथार्थ सद्धर्मदेशनामूलम् ।
संसारार्णवतारं करोम्यह देशनासारम् ।४।

अर्थ-सिद्धार्थनृपति के कुल को प्रकाशित करने वाले सूर्य, और विभिन्न मतों का अभिनिवेश रखने से कुयुक्तियों व कुतर्कों से वाद करने वाले, दुर्वादिरूप गजों को विध्वस करने के लिए सिह-तुल्य चरम तीर्थङ्कर भगवान् महावीर प्रभु को नमस्कार करके अनेकान्तस्वरूप अनन्तगुणमय बाधारहित पारिणामिक-आत्मा मे ही परिणत रहने वाला आत्मा का अनादिकालीन वास्तविक तत्वरूप अपने आत्म-धर्म का मैं आश्रय लेता हूँ ।

मेरे गुरुवर्य पाठकप्रवर श्रीमद् दीपचन्द्र महोदय के चरणकमलों की सेवा से जो गणधररचित सूत्रों का सार मुझे सम्प्राप्त हुआ है, उसी को सूत्रों का अनुसरण करता हुआ कहूँगा । नकि स्वमतिकल्पित । (इस वाक्य से श्रीमद् की शास्त्रो के प्रति दृढ व अनन्य श्रद्धा अभिव्यक्त होती है ।)

यथार्थ सद्धर्मदेशना जिसके मूल मे है और जो ससार समुद्र से तारने वाला है, ऐसा 'देशनासार' नामक ग्रन्थ मै अपने स्वय के उपकार के लिए बनाता हूँ ।

॥ जीव स्वरूप नाम प्रथम अधिकार ॥

इस जगत मे अनादिकाल से भ्रमण करते हुए प्राणी को स्वात्मनिष्ठ चित्स्वभाव परिणमनरूप आत्मा की स्वपरिणति का प्रागभाव रूप कि जिसके प्राप्त होने पर द्रव्यसाधन–वाह्यसाधन मनुष्यभवादि व्रत, नियम, स्वाध्याय, तीर्थयात्रा जप, तप आदि भावसाधन सम्यग्दर्शनादि की शुद्धि होती है, क्योकि जब तक वह प्राप्त नही होता सारे ही साधन केवल भव भ्रमण के हेतु ही रहते है । जैसाकि आचाराङ्गसूत्रवृत्ति मे कहा है –

'फलमेव गुण फलगुण , फल च क्रियाया भवति, तस्याश्च क्रियाया सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्ररहिताया ऐहिकामुष्मिकार्थ प्रवृत्ताया अनात्यन्तिकाया वैकान्तिको भवेत्, फलगुणोऽप्यगुणो भवति, सम्यग्–दर्शनज्ञानचारित्र–सहिताया क्रियायास्त्वैकान्तिकात्यन्तिकानाबाधसुखाख्य — सिद्धिफल–गुणोऽवाप्यते । एतदुक्त भवति–सम्यग् दर्शनादिकैव क्रिया सिद्धिफलगुणेन फलवती, अपरा तु सासारिक सुखफलाध्यारोपात् निष्फला, इत्यर्थ ।"

अर्थात् फल ही गुण है जिसका उसे फलगुण कहते है । फल क्रिया का होता है, जो क्रिया सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्रयुक्त नहीं है और केवल ऐहलौकिक या पारलौकिक सुखप्राप्ति के लिए की जाती

है; उसका फल अत्यन्त व एकान्त सुखदाता न होने से वह गुण भी अगुणरूप है । जो क्रिया सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्रपूर्वक होती है, उसका फल अत्यन्त और एकान्त अनाबाध सुख स्वरूप सिद्धि होता है । अतः वही सम्यक्क्रिया वास्तविक फल-गुणवाली है । साराश कि सम्यग्दर्शनादि सहित क्रिया ही वास्तव मे फलरूप गुणवती-सफल है और इनसे सम्यग्दर्शनादि से रहित तप-सयमादि क्रिया सासारिक, भौतिक सुखो का अध्यारोप होने से निष्फल है । ऐसा आगम वाक्य है । अतः अनाबाध-सुख की प्राप्ति के लिए आत्मा का वास्तविक स्वभावरूप ही धर्म है । उसे प्रकट करने का ही प्रयत्न करना चाहिये और वही प्राग्भाव रूप क्रिया है । वह प्राग्भाव स्वरूप के निश्चय, भासन और रमण से ही होता है । सम्यग्दर्शन अर्थात् श्रद्धा के द्वारा निश्चय होता है, सम्यग्ज्ञान से आत्म-स्वरूप भासता है; और सम्यग्चारित्र ही आत्मरमणता है । इन्हीं तीन को रत्नत्रय कहते है । इन्हीं के द्वारा मुक्ति की प्राप्ति होती है । स्वरूप का अभ्यास करने वालों को सम्पूर्ण स्वरूप का अनुभव करने वाले अर्हत् और सिद्ध तथा स्वरूप की सिद्धि ही जिनका साध्य है उस साध्य की प्राप्ति के साधन मे उद्यत रहने वाले निर्ग्रन्थ साधुजन ही वन्दनीय है । अतः ग्रन्थकार ग्रन्थारम्भ मे मङ्गलाचरण रूप सर्व प्रथम इन्हीं की वन्दना करते हैं :-

अरिहंते वंदित्ता सिद्धे पुण्णे तहेव आयरिये ।
उवज्झाए निग्गंथे रयणत्तयधारए वंदे ।१।

भावार्थ—शुद्ध आत्मा के स्वरूपमय धर्म के रसिक होने से जो आत्मा धर्मध्यान, शुक्लध्यान व महान्सम्यक् तपोबल के द्वारा घाती-आत्म-गुणो का घात करने वाले ज्ञानावरणीयकर्म, दर्शनावरणीय कर्म, मोहनीयकर्म और अन्तरायकर्म के सर्वथा क्षय हो जाने पर

आत्मसत्तागत केवलज्ञान, केवलदर्शन, यथाख्यातचारित्र, अनन्त दानलब्धि व लाभलब्धि एव स्वभोग्य अनाबाध सुखादि का भोग तथा उपभोग, अनन्तवीर्यादि स्वशक्ति विलास सुखों को प्राप्त हो गये है, वे अर्हत् कहलाते हैं । उन अर्हन्तों को तथा शैलेशीकरण के द्वारा अघाति कर्म-वेदनीयकर्म, नामकर्म, गोत्रकर्म तथा आयुष्यकर्म भी जिनके सर्वथा नष्ट (क्षय) हो गये हैं, जो सहज आत्यन्तिक और एकान्त, निष्प्रयास अनायास, अकृत्रिम, निरुपचरित, अनन्त, सम्पूर्ण आत्म-स्वभाव के प्रकट होने रूप अखण्ड आनन्दमय है । ऐसे सिद्धों को नमस्कार करके (इन दोनों अर्हत् सिद्ध के ग्रहण से देवतत्व की उपलब्धि की भावना अभिव्यक्त की है) तथा यथार्थ, शुद्ध, अनेकान्त स्याद्वाद दृष्टि से पदार्थों का स्वरूप प्रकट करने मे कुशल, श्रुतज्ञान का जिन मे प्रागभाव (स्पष्टता) है और स्व-पर का उपकार करने वाले, पाँच आचार-- ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार मे स्वय प्रवृत्त रहकर अन्यों को प्रवृत्त करते हैं, ऐसे आचार्यो को एव स्वरूप के साधन मे रुचि वाले, श्रेष्ठ श्रुतज्ञान के अध्ययन अध्यापन के द्वारा उपकार करने वाले उपाध्याय भगवन्तों और सर्व परभाव को दूर करने के लिए उद्यत, ५ समिति, ३ गुप्ति की सम्यक्प्रकार से रक्षा (पालन) करने वाले, द्रव्य आश्रव व भाव आश्रव से विरत रत्नत्रय के आराधक, निर्ग्रन्थ मुनिराजों को नमस्कार करता हूँ । अब ग्रन्थ का विषय प्रस्तुत करते हैं -

जीव सरूवो ससमओ परभावो सव्वहा य परसमओ ।
जीव परभावरओ परसमय ससमय सभावत्थो ।२।

अर्थ--वास्तव मे जीव का स्वरूप ही स्वसमय-सिद्धान्त-स्वभाव है और परभाव सर्वथा परसमय है । यह जीव परभाव में रहता हुआ परसमय तथा स्वभावस्थ स्व-समय है ।

भावार्थः—जो यह आत्मा है वह नित्य परिणामी स्व-स्वभाव मे ही स्थित रहता हुआ होने से उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य की मात्र अनुभूति रूप लक्षण वाली सत्ता से शोभायमान है । क्योंकि तत्वार्थसूत्रकार ने "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्" कहकर सत् का लक्षण अभिहित किया है और जीव अस्तिकाय है, अतः सत् रूप है । उसी सत्ता से शोभित होता हुआ चैतन्य रूप होने से नित्य उदित ज्ञान दर्शन, आदि अनन्तधर्मों से अधिरूढ़ एकधर्मी है । अर्थात् चैतन्यधर्मी है, और जानने देखने आदि की अनन्त शक्तियाँ उसके धर्म अर्थात् स्वभाव हैं क्योंकि शास्त्र मे वस्तु के स्वभाव को ही "वत्थु सहावो धम्मो" कहकर धर्म कहा है । ज्ञान-दर्शनादि नित्य उदित रहने से द्रव्य भाव, क्रम-अक्रम मे प्रवृत्त विचित्र भावों के स्वभाव वाला होने से गुण और पर्याय वाला है । गुण सहभावी होते हैं और पर्याय क्रमभावी । इन्हीं ज्ञानादि गुणों से और पर्यायों से स्व पर भाव को प्रकाशित करने मे समर्थ होने के कारण विश्वरूप (केवली समुद्घात के समय तथा ज्ञान रूप से) और एक रूपमय होता है । प्रतिविशिष्ट अवगाहना (शरीर की ऊँचाई) गति, स्थिति, वर्त्तना-निमित्तत्व, रूपित्व के अभाव से तथा असाधारण चिद्रूपतारूप स्वभाव के सद्भाव से, उपर्युक्त अवगाहना, गति, स्थिति आदि गुणवाले आकाश, धर्म, अधर्म, काल, पुद्गल उन पाँच द्रव्यो से अत्यन्त भिन्न, अनादि से अनन्त बार द्रव्यों से मिश्रण होने पर भी स्वरूप से प्रच्युत नहीं होता और टकोत्कीर्ण अक्षरवत् जिसमे चिद्भाव सदा विद्यमान रहता है, वह जीव नामक पदार्थ ही वास्तव मे स्वसमय अर्थात् स्वसिद्धान्त है ।

सारांश कि चेतन की चिद्रूपता निगोद दशा मे भी सर्वथा नष्ट नहीं होती । वह कभी अजीव-जड़ नहीं बनता, वहाँ भी अक्षर-ज्ञान का अनन्तवाँ भाग निरावृत रहता ही है । यहाँ जीव को ही जो स्वसमय नाम

दिया गया है, उसका आशय है सम् एकत्वेन अर्थात् एक रूप से-युगपत्-एक साथ अयति—जानता है, वह समय अर्थात् ज्ञान है और जीव वस्तुत ज्ञान स्वरूप है । अत जीव को स्वसमय कहना युक्तियुक्त और यथार्थ है ।

एकत्व का निश्चय होने पर अपने स्वरूप में समस्त गुणों की प्रवृत्ति स्व-समय है । उसमे प्रवृत्त आत्मा बन्धक रूप नहीं होता है, अर्थात् अबन्धक होता है, क्योंकि धर्मास्ति (अन्य), अधर्मास्ति आदि सभी द्रव्य अपने मे ही मग्न रहते हैं । अपने अपने धर्म यानी स्वभाव चक्र मे रहते हुए परस्पर एक दूसरे के साथ रहते हुए भी एक दूसरे का गुण ग्रहण नहीं करते और सदा स्वरूप मे ही स्थित रहते है पररूप में कदापि परिणत नहीं होते स्वसमयस्थ रहते हैं । यहाँ समय का अर्थ काल या सिद्धान्त नहीं, किन्तु सम्पत्ति अर्थात स्वगुणरूप धन है । जैसे धर्मद्रव्य का गुण गति-सहाय है, अधर्म द्रव्य का स्थिति-सहाय, आकाश का अवकाशदान, काल का परिवर्तन, पुद्गल का क्षणभङ्गुरता और जीव का चेतनाज्ञान है । ये छहों द्रव्य अपना अपना गुण अपने पास ही रखते हैं, परस्पर किसी का लेते देते नहीं । तथापि अनादि मोहित परभाव-पुद्गल में स्वभाव के अध्यारोप और मिथ्यात्व, अज्ञान और असयम मे एक रूप बने हुए पर रूप मे परगुण मे मग्न आत्मा का स्वरूप तो सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्रमय है । पुद्गल जड शरीरादि परद्रव्य की शुद्धि से कौन सी आत्मा की शुद्धि है । अत आत्म-शुद्धि ही जिसमे मुख्य है, ऐसे स्वसिद्धान्त का पठन-पाठन ही करना चाहिये क्योंकि कहा गया है —

सुअ परिचयाणभूया सव्वहास्सवि कामभोग बधकहा परिचाया अर्थात् श्रुत के साथ परिचय करके स्वानुभूति करना चाहिये । शेष सभी प्रकार

की कामभोगादि की कथा, कर्मबन्ध कराने वाली है और सुलभ है, किन्तु जो गुण-पर्याय की एकता रूप स्वपरिणति मे परिणमनरूप स्वरूप कथा है अर्थात् जिसमे आत्मा के स्वरूप का वर्णन हो वह कथा सुलभ नहीं है । बुद्धिमान् जन ऐसी कथा का ही जिसमे स्वरूप को निरावरण करने की बात हो, उद्यम करते हैं और इसीलिए निर्ग्रन्थ श्रमण, श्रमणी, भ्रान्त हुए अनन्त ससारी जीव जिस इन्द्रिय-सुख को इष्ट समझ कर भोगते हैं, उसका परित्याग करते हैं । गृहस्थों से दूर एकान्त निवास स्थान मे रहते हैं । गुरु चरणों की सेवा करते हैं अर्थात गुरु के समीप रहते हैं । निर्दोष आहार के लिए घर-घर घूमते हैं । बाईस परिषह सहते हैं । भयकर उपसर्ग भी दृढ़ता से सहन करते हुए समाधिमग्न रहते हैं ।

अत्यन्त विसवादिनी कामभोगानुपबन्ध कथा अर्थात् वे कथाएँ या वैसा साहित्य जिसमे वासनाओं को उत्तेजित करने वाले भाव-भाषा आदि हैं और पूर्वापर विसवाद से भरे वाक्य हैं जिसका अनन्त बार आत्मा से परिचय हो चुका है ऐसे विकार जिसके पठन-पाठन से उत्पन्न हो सकते हों, उस प्रकार का साहित्य न पढ़े । सदा उत्तम तत्व का चिन्तन करने वाले और अन्तःकरण मे सत्तत्व ज्ञान का जिनके प्रकाश है ऐसे महान् पुरुषों का ज्ञान भी क्रोध, मान, माया, लोभरूप कषायचक्र से एकीकरण करता हुआ अज्ञान रूप मे परिणत हो जाता है, क्योकि वास्तविक रूप मे आत्मतत्व मे यद्यपि ज्ञान-दर्शन-चारित्रादि गुण सदा विद्यमान रहते हैं । तथापि अन्तःकरण मे प्रकाशमान ज्ञानादिक कषायचक्र-क्रोध मान माया लोभ, हास्य-रति-अरति-भय-शोक-जुगुप्सा एव स्त्रीवेद नपुसकवेद आदि एव ज्ञानावरणादि के साथ एकीकरण होने से वह ज्ञानतत्व अत्यन्त तिरोभूत (छुप) हो रहा है । स्वात्मतत्वस्वरूप को जानता नहीं है तथा महापुरुषों की उपासना न करने के कारण उस स्वरूप को पहले कभी न

इस प्रकार दर्शन-ज्ञान-चारित्र से स्वरूपनिर्द्धार, स्वरूपभासन और स्वरूप रमण रूप तीनों के एकीभाव को प्राप्त आत्मा सवर परिणमन रूप आत्म स्वभाव वाला है, आत्मा को अमूर्त्त, अजन्मा, अखण्ड, शान्त, शुद्ध ज्ञानानन्दमय स्वरूप से अनुभव करता हुआ सम्पूर्णानन्द का साधक होता है। कहा भी है —

"अयि। कथमयि कृत्वा तत्त्व कौतूहलीसन्,
अनुभव। भवमूर्त्ते पार्श्ववर्त्ती मुहुर्त्तम्।
पृथगथ विलसन्त स्व समालोक्य सम्यक्
त्यजसि झगिति मूर्त्या साकमेकत्वमोहम्॥

अर्थ —हे भद्र आत्मन्! किसी भी प्रकार से तत्त्व, आत्मतत्त्व जानने का उत्साही होता हुआ एक मुहूर्त्त मात्र स्वय को शरीर से भिन्न-(पार्श्ववर्त्ती वनकर) अनुभव कर। इससे स्वय की आत्मा को शरीर से पृथक् आनन्द स्वरूप देखकर तेरा शरीर के साथ एकत्व का मोह शीघ्र ही छूट जायगा।

अशुद्ध व्यवहारनय से यही आत्मा चेतना के परानुयायिनी बनने और परपरिणमन से सकर्मक बनता है। इस प्रकार वास्तव मे आत्मा आत्मरमणी ही है। किन्तु अशुद्ध परिणति से पररमणी हो जाने पर स्वक्षेत्रावगाढ द्रव्यकर्ममालिन्य से ससार परिणाम को प्राप्त हो गया है अर्थात् ससारी बना हुआ है फिर भी उसे शुद्धचिदानन्द रूप को ही ध्येय रूप से धारण करना चाहिये।

यहाँ जिज्ञासु प्रश्न करता है कि-यदि जीव शरीर नही है तो फिर तीर्थकरादि महापुरुषो के शरीर वर्णन से उनका स्तवन करना और उनके अतिशयादि की स्तुति करना तथा नाम जाप करना, यह आत्मस्तुति तो है नही फिर इनके करने से क्या लाभ ?

उत्तरः—जैसे स्वर्ण के आभूषणादि अनेक आकार धारण कर लेने पर भी व्यवहार नय से स्वर्ण व्यपदेश किया जाता है । शुद्ध निश्चय नय से तो पीतत्व, गुरुत्व, स्निग्धत्व आदि गुणों से ही स्वर्णस्वरूप है । उसीप्रकार व्यवहारनय से तीर्थंकर केवली आदि महापुरुषों के सहनन, संस्थान आदि शारीरिक स्थिति की स्तुति करने से उन्हीं की स्तुति है । निश्चयनय से तो शरीरस्तवन द्वारा आत्मस्तवन अनुपपन्न ही है अर्थात् नहीं होता । निश्चयनय से शरीर आदि के गुण, केवली भगवान के गुण नहीं हैं । अतः अनपवर्त्तन चेतना लक्षण वाले परम–आनन्द मय केवली भगवान के शरीरादि पुद्‌गलगुणों का स्तवन आत्म–स्तवन नहीं है । आत्मा के द्रव्यादि भेद से वर्त्तन होने के कारण उनके शरीरातिशयों से सश्लेषित–मिश्रित आत्मा की सद्‌भूत व्यवहारनय से ही स्तुति है । निश्चयनय से तो उनके निर्मल अनन्तज्ञान अनन्तदर्शनरूप उपयोग और आत्मानन्द अनुभवमय आत्मा की परम क्षमा मार्दवादिपूर्ण शुद्धचारित्रसुख वीर्यान्वित स्थिति की स्तुति ही वास्तविक स्तुति है । इसे अन्वयस्तुति कहते हैं । अखण्ड, अबाध, अशरीरी, अनाहारी आदि वीतरागादि गुणों की स्तुति व्यतिरेक निश्चय स्तुति है । स्वभाव आविर्भावलक्षण वाले निश्चयगुणों से जो बहुमानपूर्वक उनके गुणों की अनुयायिता परिणति है, वह तात्विक भक्ति है । आहार–नीहार की अदृश्यता, कमलगन्धी श्वासोच्छ्‌वास, मासरुधिर की श्वेतता, शरीर निर्मलता, नीरोगिता आदि शरीरानुयायी अतिशयसम्पदादि की और समस्तसशयोच्छेदक सद्धर्मदेशनादि उपकारक सम्पदा की स्तुति सम्पद्‌रूप स्तुति भक्ति है ।

हे नाथ ! मोहमुग्ध, अनादिकालीन कर्मो से बद्ध कुण्ठित तृष्णा से तप्त हमको आपके अतिरिक्त कौन तारने वाला है ? इत्यादि भद्रक भक्ति है । इस प्रकार सभी स्तुति स्तवनों मे विभाग करके जानना चाहिये । वास्तव मे स्वरूप सम्पदा की स्तुति ही तत्व भक्ति है । वास्तव मे यथार्थ

ज्ञानी ही ससार से निवृत्त होता है । जैसा कि श्री आचारांग सूत्र मे कहा है —

"सड्ढी आणाए मेहावी लोय च आणाए अभिसमिच्चा ।
अकुतोभय अत्थि सत्थ परेण पर नत्थि असत्थ परेण पर।१२५।

जे कोहदसी से माणदसी, जे माणदसी से मायदसी, जे मायदसी से लोभदसी, जे लोभदसी से पेज्जदसी, जे पेज्जदसी से दोसदसी, जे दोसदसी से मोहदसी, जे मोहदसी से गब्भदसी, जे गब्भदसी से जम्मदसी, जे जम्मदसी से मारदसी, जे मारदसी से निरयदसी, जे निरयदसी से तिरियदसी, जे तिरियदसी से दुक्खदसी, से मेहावी अभिनिविट्टिज्जा ।"
आचाराग ३, ४, १२५-१२६

टीका — 'सड्ढी' इत्यादि, श्रद्धा-मोक्षमार्गोद्यमेच्छा विद्यते यस्यासौ श्रद्धावान् 'आज्ञया, तीर्थकरप्रणीतागमानुसारेण यथोक्तानुष्ठन-विधायी 'मेधावी' अप्रमत्तयति मर्यादाव्यवस्थित श्रेण्यार्हो, नापर इति । किच-'लोग च' इत्यादि, च समुच्चये लोक षड्जीवनिकायात्मक कषायलोक वा 'आज्ञया' मौनीन्द्रागमोपदेशेन 'अभिसमेत्य' ज्ञात्वा षड् जीवनिकायलोकस्य यथा न कुतश्चिन्निमित्ताद् भय भवति तथा विधेय, कषायलोक प्रत्याख्यान-परिज्ञानाच्च तस्यैव परिहर्त्तुं न कुतश्चिद् भयमुपजायत इति, लोक वा चराचरमाज्ञया आगमाभिप्रायेणाऽभिसमेत्य न कुतश्चिदैहि-कामुष्मिकापाय सन्दर्शनतो भय भवति । तच्च भय शस्त्राद् भवति, तस्य च शस्त्रस्य प्रकर्षगति रस्त्युत नेति ? अस्तीति दर्शयति-'अत्थि' इत्यादि, तत्र द्रव्यशस्त्र कृपाणादि तत्परेणापि परमस्ति तीक्ष्णादपि तीक्ष्णतरमस्ति, लोहकर्तृसस्कारविशेषात्, यद् वा शस्त्रमित्युपघातकारि, तत एकस्मा त्पीजकारिणोऽन्यत् पीडाकार्युत्पद्यते, तनोप्यपरमिति, तद्यथा-कृपाणा-भिघाताद् वातोत्दोष, तत शिरोऽर्त्ति, तस्या ज्वर, ततोऽपि मुखशोष

मूर्च्छादय इति, भावशस्त्र पारम्पर्यत्वेक सूत्रान्तरित स्वत एव प्रत्याख्यानपरिज्ञाद्वारेण वक्ष्यति, यथा च शस्त्रस्य प्रकर्षगतिरस्ति पारम्पर्य वा विद्यते अशस्त्रस्य तथा नास्ति, इति दर्शयितुमाह—'नत्थि' इत्यादि, 'नास्ति' न विद्यते किं तद् ? 'अशस्त्रं' 'शस्त्र' संयमः तत् 'परेण पर' मिति प्रकर्षगत्यापन्नमिति, तथाहि—पृथिव्यादीनां सर्वतुल्यता कार्या न मन्दतीव्रभेदोऽस्तीति, पृथिव्यादिषु समभावत्वात् सामायिकस्य, अथवा शैलेश्यवस्था सयमादपि परः सयमो नास्ति, तद् उर्द्ध गुणस्थानाभावात् इति भावः ।

यो हि क्रोधमुपादानते बन्धतः स्थितितो विपाकतोऽनन्तानुबन्धि लक्षयतःक्षयमाश्रित्य प्रत्याख्यानपरिज्ञयाजानति सोऽपरमानादि-दर्श्यपीत्येतदेव प्रतिसूत्र लगयितव्यमित्याह—

योहि क्रोध स्वरूपतो वेत्ति अनर्थपरित्यागरूपत्वाज्ज्ञानस्य परिहरति च स मानमपि पश्यति परिहरति चेति, यदिवा यः क्रोध पश्यति आचरति स मानमपि पश्यति मानाध्मातो भवतीत्यर्थः एव उत्तरात्रापि आयोज्यम् ।

टीका का सारांश—श्रद्धावान मोक्षमार्ग पर चलने का इच्छुक साधक तीर्थंकरों के द्वारा प्रणीत आगमानुसार यथोक्त अनुष्ठान करने वाला, अप्रमत्त साधु ही उपशम श्रेणी क्षपक श्रेणी करने योग्य होता है; अन्य नही । और षड्जीवनिकायात्मक लोक को भी आगमोक्ति से जानकर पृथिवीकायिकादि जीवों को किसी भी प्रकार से कोई भय सन्ताप न हो, वैसा करना योग्य है, क्योंकि कषाय स्वरूप लोक के ज्ञान और प्रत्याख्यान से उन पृथिवीकायिकादि जीवों की हिसा का परिहार करने वाले से ही छः काया के जीवों को भय नहीं उत्पन्न होता । अथवा आगम के अभिप्राय को जानकर वैसा आचरण करने वालों के इस लोक का या परलोक का कोई भय नही रहता ।

शस्त्र दो प्रकार के है —

१ द्रव्य शस्त्र २ भाव शस्त्र । १ द्रव्य शस्त्र कृपाणादि है । वे एक से एक तीक्ष्णतर होते है । अथवा उपघातकारि भी शस्त्र है । जिनका प्रयोग करने पर प्राणि को पीडा होती है । पीड़ा से दोष कुपित होते है —ज्वर हो जाता है, मुख शोष मूर्च्छादि होते है, भाव शस्त्र क्रोधादि है, उनका भी परम्परा से दोष दिखलाते हुए आगे कहेंगे । आत्मा मे रहे हुये वास्तविक दोषो को नष्ट करने वाला उत्कृष्टतर-शस्त्र सयम है ।

सयमी सभी जीवों-पृथ्व्यादि में समदर्शी होता है । सामायिक समदर्शी के होता है । समभाव को ही सामायिक कहते है । पूर्ण सयम शैलेशी अवस्था मे होता है । वहाँ सर्वथा हिसानिवृत्त बनता है और दोष नष्ट हो जाते है ।

जो क्रोध को उपादान बन्ध, स्थिति, विपाक और अनन्तानुबन्धी आदि ४ लक्षणों से तथा क्षयोपशम, क्षयादि को समझकर त्यागने योग्य जान लेता है, वह मान आदि अन्य को भी जान लेता है । यही प्रतिसूत्र के साथ लगाना चाहिये ।

सूत्रार्थ —जो क्रोध को उपर्युक्त प्रकार से जानकर त्याग देता है वह मान, माया, लोभ, प्रेम, द्वेष, मोह, गर्भ, जन्म, मृत्यु, नरक, तिर्यक, दुख को भी जानकर इनका त्याग कर देता है अर्थात् जो भाव शस्त्र की इस परम्परा का ज्ञान होने से इनसे अभिनिवृत्त होता है, वही वास्तव मे बुद्धिमान है । ये भाव शस्त्र, आत्मगुणों को श्रद्धा, सयम, ज्ञान आदि की शक्ति को दबाकर रखते है, और आत्मा अज्ञान से इनके आधीन बनकर ससार भ्रमण बढाता हुआ दुख भोगता रहता है, अत आन्तरिक दोषों को जानना व त्याग करना, साधक के लिये अनिवार्य है । इनमें क्रोधादि में प्रवृत्ति करता हुआ, मोक्ष मार्ग मे बढ़ने की अपेक्षा, ससार वृद्धि करता रहता है ।

'श्रद्धा–मोक्षमार्गोद्यमेच्छा, अर्थात् मुक्ति मार्ग पर चलने का उद्यम करूं, ऐसी इच्छा को श्रद्धा कहते हैं । ऐसी इच्छा जिसे हो वह श्रद्धावान् है । आज्ञा अर्थात् तीर्थंकर प्रणीत आगम के अनुसार आगम मे कहे हुए अनुष्ठान को करने वाला, मेधावी मर्यादा मे रहा हुआ है, वह श्रेणी के योग्य है, अन्य नहीं । लोक षड् द्रव्यात्मक है, अथवा षड्जीवनिकायरूप है, व कषायरूप है ऐसा जिनेन्द्र के उपदेश से जानकर कौन ऐसा है जो निर्भय रहे ! आशय यह है कि शास्त्र–श्रवण के द्वारा ससार की वास्तविकताओं का ज्ञान हो जाता है और आत्मा भवभ्रमण से डर जाता है, तथा तत्वजिज्ञासु होकर तत्व का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने पर ही निर्भय होता है; क्योंकि जो अज्ञानतावृत है, वह गुण–दोष नहीं जान सकता । जैसे क्रोध एक दोष है, उसके आने पर साधारण जन जो स्व पर के ज्ञान से अनभिज्ञ होने के कारण क्रोध रूप ही अपने आपको कर लेता है । अथवा अज्ञानी होने से अनादि काल की आकुलता से तप्त जो चेतन के परिणाम हैं, वह ही क्रोध है । ऐसा शास्त्र से जान लेता है और क्रोध को जान लेने वाला, मान को भी जान लेता है कि अशुद्ध परभाव की, उपधि होने पर आत्मा का उद्धत परिणाम, मान है । इस प्रकार समस्त दुख को कर्म के कारण होना मानने वाला बुद्धिमान ही इन विषय कषायादि दोषों से निवृत्त होता है" । इससे सिद्ध हुआ कि यथार्थज्ञानी ही ससार से निवृत्त होने योग्य है । अतः ज्ञाता के उस त्याग को दिखाते हैं :—

जह नाम कोई पुरिसो, परदव्वमिणति जाणिउँ चयइ ।
तह सव्वे पर भावा णाउण विमुचये णाणी ॥४॥

जैसे कोई पुरुष भ्रम से अथवा शीघ्रतावश रजक से किसी दूसरे व्यक्ति के कपड़े लेकर, 'ये मेरे ही हैं इस बुद्धि से पहन रहा है ।' इतने मे उन वस्त्रों का स्वामी आ गया और उसने कहा हे बन्धु ! ये वस्त्र तो

मेरे है, उतारो इन्हें शीघ्र । वह न उतारने लगा तो बलात् पकडकर बोला-अरे । खोलो इन्हें, ये तो मेरे हैं । ऐसे बार बार कहने पर सब चिन्हादि से अच्छी तरह परीक्षा करके यह जानकर कि 'ये वस्त्र मेरे नहीं हैं, निश्चय ही 'ये अन्य के हैं' ऐसा जानकर उन वस्त्रों को त्वरित उतार देता है । वैसे ही अज्ञानीजन भी भ्रमवश राग, द्वेष, मोह, शरीर और इन्द्रिय सुख आदि परभावों को, 'अपने हैं', ऐसा जानकर उन्हीं मे अज्ञानवश मग्न रहता है । ऐसे व्यक्ति को किन्हीं यथार्थ उपकार करने वाले गुरु ने कहा—हे भद्र । ये रागादि परभाव हैं, इन्द्रियों द्वारा अपने विषयों के भोग से मिलने वाला सुख तुम्हारा नहीं है, ये तो जड है । तुम ज्ञानानन्द के भोगी हो, अमूर्त हो, इन शरीरादि के तुम न कर्त्ता हो, न भोक्ता । न यह तुम्हारा कार्य है और न तुम इसके कर्त्ता हो । अनन्तजीवों के द्वारा अनन्तवार भोगकर छोडे हुए ये जड पदार्थ चल, सुखास्वाद से रहित है । इन्हें ग्रहण करते हुए और भोगते हुए ये जो आत्मधर्मा-ज्ञानदर्शनादि को आवृत करने के कारण बनते है और अनन्त वर्गणाओं की प्राप्ति के हेतु है अत इन्हे छोडो । जैसे श्वान अस्थि को दाढ़ों से चबाने के प्रयत्न मे अपनी ही दाढ़ से निकले हुए रक्त का आस्वादन करता हुआ उसे अस्थि-रस समझकर दु ख को दु ख रूप न अनुभव करके सुखानुभव करता है, वैसे ही भोगों मे आसक्त जन भी सुख का अनुभव करता है । हे महानुभाव । तुम इन भोगों मे अपने आपको मोहित न करो और वास्तविकता का विचार करते हुए शीघ्रातिशीघ्र प्रतिबुद्ध होकर स्व का ग्रहण और पर का त्याग करो । बार बार यह चिन्तन करो कि ये भोगादि परभाव हैं । ज्ञानी सूक्ष्म बुद्धि से इनकी परिणाम-भयकरता जानकर ठीक तरह से परीक्षा करके निश्चित होने पर कि, ये परभाव है, स्वभाव नहीं, शीघ्र सभी परभावों को छोड देता है । अत सम्यग्ज्ञानी परभाव का प्रत्याख्यानी (त्यागी) होता है ।

श्री भगवती सूत्र मे भी जीव अजीव आदि तत्वों के ज्ञापन के प्रत्याख्यान को ही सुप्रत्याख्यान कहा है । दशवैकालिकसूत्र मे भी इसी प्रकार कहा है—

पढमं नाणं तओ दया एवं चिट्ठइ सव्व संजए ।

अन्नाणी किं काही किंवा नाही छेय पावगं ।

अर्थः—पहले ज्ञान प्राप्त करना और फिर अहिसामय आचरण करना, इसी प्रकार सर्व साधु करते हैं क्योंकि अज्ञानी श्रेय व पाप को नहीं जानता । टीकाकार ने अज्ञानी का अर्थ–वह क्या करेगा शुद्ध साध्य शून्य है । अज्ञानी वस्तुतः त्यागी नहीं, ज्ञानी ही त्यागी है ।

'लोकसार' मे भी इसी अर्थ की पुष्टि की गई है ।

अब पुनः परभाव क्या है ? इसी का विवेक जागृत करने को ग्रन्थकार कहते हैं—

णोऽहं मोहो न मे मोहो णो विभावजकारगो ।

अप्पा जेसिं नत्थित्त ण मज्झ तेसिं भिन्नत्तणं मई ॥५॥

यहाँ निश्चय ही शुद्धफल देने मे सामर्थ्य वाला सम्यक्त्व प्रादुर्भूत होकर स्वभाव से ही पुद्गल से निवृत्त होता हुआ टंकोत्कीर्ण ज्ञायक स्वभाव ही परमार्थ से ज्ञायक स्वभाव है । यह स्थिति होने पर अर्थात् सम्यग्दर्शन प्रकट होने पर आत्मा मोहादि विकारों को परभाव रूप से जानकर इस विचार को दृढ़ करता है कि मै स्वयं मोह रूप नहीं हूँ न मोह मेरा स्वभाव है, प्रत्युत परभाव है, मुझ से भिन्न है, मेरा नहीं है । न मुझ से प्रादुर्भूत है ।

आत्मा स्वयं ही विश्व को प्रकाशित करने वाला सूर्य है ।

सदा विकस्वर प्रताप सम्पत रूप किरणों वाला है ऐसी चित् शक्तिमात्र से स्वभाव, स्वरूप भाव द्वारा कोई आत्मा अवबुद्ध होता है,

सभी आत्मा प्रबुद्ध नहीं होते । यदि चेतन के साथ पुद्गल की एकता एकान्त रूप से मान ली जाय तो समस्त पर पुद्गलों के साधारण अवगाहन का निवारण करना अशक्य होता है । और जिसप्रकार पुद्गल परभाव है, उसीप्रकार समस्त पर द्रव्य-धर्मास्तिकायादि की परस्पर सामान्य अवगाहन का निवारण अशक्य होने पर भी वे है तो भिन्न ही एक रूप नहीं बन जाते । अपने अपने स्वभाव मे ही रहते हैं, अपने गुण धर्म का परित्याग कभी नही करते । किन्तु आत्मा अज्ञानवश पुद्गल जड के साथ स्वय को जो एक रूप मान बैठता है, वह मोह का प्रभाव है, मिथ्या धारणा है । किन्तु सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान हो जाने पर जड से सम्बन्धित रहने पर भी दधिखण्ड (शिखरन) मे दधि के स्पष्ट आस्वादवत् आत्म-स्वाद भेद से जड के प्रति उसका ममत्व नहीं रहता, वह स्वय को आत्मरूप विचारता है और सर्वदा एकत्व भावना से आत्मा को आत्मरूप और पुद्गल-जड को पुद्गल रूप से समझता है । क्योंकि स्व रस में लीन और स्व-निर्भरता का भाव ही सदा सचेतना रखने मे समर्थ है ।

मै शुद्ध, अनादि, अनन्त, चिदानन्द, स्वात्मक्षेत्रावगाढ, व्याप्य-व्यापकभाव से सम्मिलित अनन्तज्ञानादि स्वशक्तियों से पूर्ण, स्वरूपमय, आत्मगुणों का महोदधि हूँ । अतएव राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, कर्म, नोकर्म-शरीर, योगाध्यवसाय, कषायाध्यवसाय, शुभाशुभानुबन्धि, पुण्यपाप हेतुभूत अध्यवसाय, श्रोत्रेन्द्रियादि पाँच इन्द्रियरूप परिणाम आदि सर्व विभाव है-परभाव है । धर्मास्तिकायादि परभावों का और अप्रशस्तकायोदय से सवलित उद्भव हुए अप्रशस्त परिणामो का मुझ मे नास्तित्व है । न मै उन भावो का स्वामी हूँ न वे मेरे अपने है । क्योंकि अत्यन्त भिन्न स्वभाव वालो का एकत्व कैसे हो सकता है ? अत मैं, मैं हूँ, और अपने ज्ञान, दर्शन, आनन्द, अमूर्तत्व, अक्षयत्व आदि गुणों का स्वामी हूँ । अन्य पुद्गल जडादि पदार्थों का स्वामी नहीं हूँ । इस प्रकार

विभिन्न परभाव मेरे स्वभाव ही नहीं है, तो उत्सर्ग से शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा से मैं दानादि का दाता भी नहीं हूँ क्योंकि कोई भी द्रव्य-धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, काल, पुद्गलास्तिकाय, जीवास्तिकाय, अपने स्वभाव को किसी को देने मे समर्थ नहीं । अर्थात् प्रत्येक द्रव्य अपने स्वभाव मे ही रहते हैं, एक दूसरे के स्वभाव का विनिमय कभी होता ही नहीं है, तो मेरा कैसे हो सकता है । पर पुद्गल स्कन्धों का ग्रहण, दान, (आदान, प्रदान) आत्मधर्म नहीं । 'जड़ वस्तु के दानादान मे मै दाता या ग्राहक हूँ ऐसा भाव तो मिथ्याभिनिवेश अर्थात् झूठा आग्रह, मिथ्या धारणा है ।

इस प्रकार पुद्गलस्कन्धो का कर्ता, भोक्ता, दाता आदि मे नहीं हूँ । उपाधि-शरीरादि से ही परभाव रसिक कहा जाने पर भी कि "मै कर्त्ता, भोक्ता हूँ" वास्तव मे हूँ नहीं । किन्तु ज्ञान दर्शन चारित्र रूप मे परिणत आत्मा का क्या स्वरूप है, इसी को बतलाते हुए कहते हैः—

इक्को सुद्धो जिन्नो, दंसणणाण मई सयारूवी ।
णवि अत्थि मज्झ किंचिवि अण्णं परमाणु मित्तंपि ॥६॥

व्याख्या—जो जीव अनादिकाल से मोहोन्मत्त होने से अप्रतिबुद्ध है-अज्ञानी है, वह किन्हीं अनिर्विष्ण—वैराग्यमय, अत्यन्त करुणामय गुरु के द्वारा निरन्तर प्रतिबोध पाता हुआ अर्थात् सद्गुरु द्वारा सदा तत्वज्ञान श्रवण करता हुआ, किसी प्रकार प्रतिबोध पाकर जैसे कोई अपने हाथ मे स्वर्ण रखा हुआ है इसे भूला हुआ रहता है किन्तु किसी के द्वारा भान कराने पर स्वर्ण को देख लेता है । इसी न्याय से अनादि काल से विस्मृत आत्मस्वरूप का अवलोकन करने लगता है और जान लेता है कि अहो ! मै तो परमात्मा स्वरूप हूँ । शुद्ध श्रद्धा और वैसी अनुचर्या अर्थात् अनुभव द्वारा सम्यग् रूप से आत्मा का भान कर लेता है । जो ऐसा निश्चय करता है कि जैसे समस्त कर्ममल का नाश होने पर सिद्ध

भगवान् निर्मल, निष्कलक असंगी, ज्ञानमय, अक्षय, अज, अजर, अमर अरूपी है, वैसे ही मैं हूँ, अत वह आत्मा जैसा अनन्त केवलज्ञानियों द्वारा मूल स्वरूप से देखा गया है वही मैं हूँ । वही चिन्मात्र ज्योति मेरे प्रत्यक्ष रूप से है । सर्व क्रम या अक्रम से होते हुए व्यावहारिक कार्यों द्वारा चिन्मात्ररूप से भेद किया जाने वाला होने के कारण वह एक है, और नर, देव, तिर्यञ्च नारक पर्यायों से, राग द्वेषादि भाव कर्मों से, पुण्य पाप प्रकृति रूप प्राणातिपातादि आश्रवों से, धर्मास्तिकायादि पर द्रव्यों से, निर्जरा बन्ध मोक्ष लक्षण कर्त्तव्यों से, रहित होने के कारण शुद्ध रूप है क्योंकि निर्जरण योग्य कर्म पुद्‌गलों के रहने पर ही निर्जरा होती है । अकर्मक आत्मा के नही, अत निर्जरा आत्मधर्म नहीं । हेतुरूप परिणत आत्म प्रदेशों से कर्म पुद्गलों का क्षीर-नीरवत् एक करना बन्ध कहलाता है, वह भी अकार्य ही है । अर्थात् आत्मा के करने योग्य नहीं । बन्धे हुए का छूटना मोक्ष है, वह भी पूर्वबद्ध होने से करना पड रहा है, तथापि सत्तागत धर्म नहीं है । आशय यह है कि सत्तागत धर्म तो केवल ज्ञातृत्व जो टकोत्कीर्णवत् भाव से अत्यन्त स्पष्ट होने से शुद्ध, चिन्मात्र आकार से सामान्य विशेष उपयोग अर्थात् दर्शनज्ञान परिणतिरूप दर्शनज्ञानमय सकर्मा होने से वर्णगन्ध रस स्पर्श का संवेदन रूप परिणत्व होने पर भी स्वय वर्णादिरूप से अपरिणत्व होने के कारण परमार्थ से सदैव अरूपी है । किंचिन्मात्र भी परमाणु (पुद्‌गलांश) आत्मा का अपना है, ऐसा प्रतिभास नहीं होता । अज्ञानतावश और वैसी ही भावना मे रहा हुआ ससारी प्राणी कर्म का मैं कर्त्ता हूँ । इस गलत धारणा के कारण पुद्गल-जड से एकरूपता का अनुभव करता हुआ रहता है और यही बार-बार उद्‌भावना करता है ।

स्वभाव की तीव्रवीर्य धारा से और विभाव की मन्दता से तथा स्वतत्त्व की एकता में रमणरूप कुठार से और सम्यग्ज्ञान से देखी गई व

ग्रहण की गई, सन्धि अर्थात् जहाँ जीव और जड़ का योग है, राग द्वेषरूप मोहादि कर्म के बन्धन का मूल है । उसे जड़ से उखाड़कर प्रस्फुरित ज्ञान ज्योतिर्मय आत्मा, समस्त शत्रुओं पर विजयी बन के राजा के समान परमात्मा परमानन्दमय दीप्तिमान् होता है । साराश कि क्षायिकादिसम्यक्त्वधारी बनता है और वह क्षायिकसम्यक्त्व आदि सम्यक्त्वयुक्त आत्मा शुद्ध आत्म तत्व के साध्य के अवलम्बन से पाँच आचार—ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार रूप आचार मे प्रवृत्त होता है ? तथा उस आत्मा के सम्यग्दर्शनादि गुण अत्यन्त प्रवर्द्धमान होते हैं और यथाक्रम से गुण श्रेणी मे गमन होता है । आत्मा विशुद्धतम होता हुआ क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ होकर मोह का सर्वथा क्षय कर देता है । घाती कर्मो का क्षय करके केवल–ज्ञानी बनता है और अन्त मे सर्वमनोवाक्काय रूप योगों का निरोध करके घनस्वरूप स्पर्शादिरहित गति से उर्ध्व गति स्वभाव धर्मास्तिकाय की विद्यमानता जहाँ तक है वहाँ तक–अर्थात् लोकान्त मे जहाँ सिद्धशिला का ऊपरी भाग हैं, वहाँ परम अव्याबाध आनन्द रूप सिद्ध भगवान् बनकर सर्वसाधक जनों के लिए ध्येय रूप से सदा अनन्त काल तक आत्मा अवस्थित हो जाता है । (यही मोक्ष है इसी स्थिति को प्राप्त करने के लिये साधक की साधना है ।)

इति श्रीमद् देवचन्द्र गणि विरचिते अध्यात्मप्रबोधे अपरनाम देशनासार ग्रन्थे प्रथमोऽधिकारः समाप्तः ॥

॥ जीवाऽजीव भेद विज्ञान नाम द्वितीय अधिकार ॥

अब प्रथम अधिकार मे कहा गया लब्धसिद्धत्व व साध्यसिद्धत्व का मूल कारण जो भेदज्ञान है, उसे दूसरे अधिकार में विस्तृत रूप से कहते हैः—

आया आयसहावा न परभावी कयावि वत्थुत्ते ।
(जुत्तो परेण जाओ) स परजुत्तो सग दोसेण मुत्तव्वे ॥१॥

आत्मा आतमस्वभावी है, वस्तुत परभावी कदापि नहीं । परयुक्त जो हो गया है अर्थात् पुद्‌गल के साथ जो बँधा हुआ है और जड के प्रति ममत्व बुद्धि है, वह सगदोष से हैं, अत उस सग को छोडना चाहिए ।

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्‌गलास्तिकाय और जीवास्तिकाय ये पाँच अस्तिकाय है और सद्‌रूप है, क्योंकि ये सब अपने रूप को-स्वभाव को छोडकर कदापि पररूप नहीं बनते । अत जीवद्रव्य चेतना लक्षणवान्, असख्यप्रदेशी, सच्चिदानन्दघन स्वआत्मस्वभावी है, स्वद्रव्य क्षेत्र काल भाव वाला है । सर्वज्ञेय वस्तुओं का ज्ञायक स्वभाव से ही जो उपर्युक्त गुणयुक्त है, वह कदापि परभावी नहीं होता, क्योंकि जो जिसका वास्तविक धर्म नहीं है, उसका परिणमन उस पर रूप मे कभी हो नही सकता और प्रत्येक द्रव्य अपने ही स्वभाव गुण रूप मे रहता है । यहाँ प्रश्न उठता है कि यदि ऐसा है तो फिर इस ससार मे जीवों की रागद्वेषादिरूप प्रवृत्ति क्यो दिखलाई पडती है और आत्मा भावकर्म द्रव्यकर्म नोकर्ममय दृष्टिगोचर होता है, ऐसा किस कारण से है ?

उत्तर यह है कि आत्मा जो पर-जड युक्त हो रहा है अथवा राग द्वेपरूप परिणत होता हुआ और जन्म-मरणादि करता देखा जा रहा है, वह सगदोष से है । अत पर-सग छोडने योग्य है क्योंकि उपर्युक्त सारे कार्य जन्ममरणादि रागद्वेष विकारादि सगदोष से है । सग दोष त्यागना ही श्रेयस्कर है । वास्तव मे तो आत्मा तो असगी है । व्याप्य व्यापक भाव से न सगी है, न सश्लिष्ट (सश्लिष्ट-मिला हुआ) है । न यह पर का आधार है न आधेय है । न परभावों का कर्त्ता है और न परभाव-पुद्‌गलादि इसके कार्य है । न यह परभावों का भोक्ता है, न परभाव इसके भोग्य है । अत परभाव-ससर्गी नहीं है, किन्तु ज्ञेय और दृश्यत्व

से यह ज्ञायक तथा द्रष्टा है । अतः स्व स्वभावमयी ही आत्मा है । वही तो अनादि सगागी भाव से घिरा हुआ परभाव को ही अपने कार्यरूप से और भोग्य रूप से जानता हुआ परभावो का ग्राहक हो गया है । इस प्रकार विपर्यस्तविरोधी चेतना परिणत—अर्थात् रागद्वेष रूप परिणत, व ससरण अवस्था को-जन्ममरण व चतुर्गत्यादि रूप भ्रमणावस्था को प्राप्त हुआ भी समवाय सम्बन्ध के अभाव से—जड़ से भिन्न करने योग्य है, और भेद करने मे ही इस आत्मा की साधकता है । सर्वथा परभाव से पृथक हो जाना ही परमानन्द प्राप्तिरूप सिद्धि है ।

आचाराग सूत्र के द्वितीय शीतोष्णीय अध्ययन मे कहा हैः—

"अणण्णे परम नाणी" व "न अन्यः अनन्य न पर इत्यर्थः" अर्थात् आत्मा पर नहीं है, जड़ रूप नहीं है, परमज्ञानी है । पुनः उसी सूत्र मे कहा है "वता लोगस्स सजोग जति धीरा महाजण" टीकाः—'वता' इत्यादि 'वांत्वा' त्यक्त्वा लोगरूप लोकस्य-आत्मव्यतिरिक्तस्य धनपुत्र शरीरादेः 'सयोग' ममत्वपूर्वकं सम्बन्ध शारीरदुःखादि हेतु तद्धेतु-कर्मोपादानकारण वा 'यान्ति' गच्छन्ति 'धीराः' कर्मविदारण सहिष्णवः यान्ति अनेन मोक्षमिति यान—चारित्र तच्च अनेक भवकोटि दुर्लभ लब्धमपि प्रमाद्यतस्तथाविधकर्मोदयात् स्वभावाप्तनिधिसमतामवाप्नोत्यतो महच्छब्देन विशेष्यते, महच्च तद् यान च महायान यदि वा महद्यान-सम्यग्दर्शनादित्रयं यस्य स महायानो- मोक्षस्तं यान्तीति सम्बन्धः—

अर्थात्—धीरपुरुष कर्मो को आत्मा से दूर करने मे समर्थ है । वही लोगस्स सयोगों-आत्मा से अतिरिक्त सभी धन पुत्र कलत्रादि का ममत्व पूर्वक सम्बन्ध जो शरीरादि दुःखों का हेतु है, अथवा सयोग ही कर्मोपादान का हेतु है, उसे छोड़कर महायान—यान चारित्र को जो अनेक भावों की कोटि मे अत्यन्त दुर्लभ है, उसे पाकर भी प्रमाद से वैसे कर्मो से स्वप्न मे मिली हुई निधि के समान समझ लेता है; अतः महत्

शब्द का प्रयोग किया है साराश कि चारित्र महान् है, वही मोक्ष का मार्ग है, उसे पाकर धीर पुरुष मुक्त होते है । इन उपर्युक्त वाक्यो मे भी सभी परभावों का त्याग कहा गया है, अत निश्चय करके परभावों के त्याग का प्रयत्न करना चाहिये । यह कार्य स्व पर के भेदज्ञान से होता है, अतएव कहते है —

गाथा

जीवो न धम्मदव्व नो अधम्मो नभो नोणु ।
न अन्न जीआ सव्वे न वध हेउ न योगाय ॥२॥
अप्पाणमयाणता मूढा दुपरप्पवाइणो केई ।
जीव अज्झवसाणं कम्म च तहा परूवन्ति ॥३॥
अवरे अज्झवसाणेसु तिव्व मदाणुभावग जीव ।
मण्णाति तहा अवरे णोकम्म वावि जीवोत्ति ॥४॥
कम्म सुदय जीव अवरे कम्माणुभागमिच्छति ।
तिव्वत्तण मदत्तण गुणेहि जो सो हवइ जीवो ॥५॥
जीवो कम्म उभय दोण्णि वि खलु के वि जीवमिच्छति ।
अवरे सयोगेण उ कम्माण जीवमिच्छति ॥६॥
एव विहा बहुविहा परमप्पाण वदन्ति दुम्मेहा ।
तेण परमवाइ णिच्छयवाइहि णिद्दिट्ठा ॥७॥

(कुलकम्)

व्याख्या —यहाँ अव यह बतलाते है कि ज्ञानरूप असाधारण लक्षण वाला स्वय आत्मा होते हुए भी, अत्यन्त विमूढ़जन स्वपर विवेक से विमुख होने के कारण तत्वों का विभाजन भी ठीक ढग से नहीं कर पाते और तत्व समझने में विमूढ़ बने हुये, तत्व से आत्मा को न जानते हुये,

बहुत से लोग अनेक प्रकार से आत्मा व पर पदार्थों को जीव कहते हैं। उनका निराकरण करने के लिये कहते हैः—

जीव चेतना लक्षण वाला और स्वात्मानन्द को भोगने वाला है; वह धर्मास्तिकाय नहीं। धर्मास्तिकाय एक अजीव द्रव्य है, जो अन्य द्रव्य–जीव और पुद्गल–जड़ को गति मे अवलम्बन (सहारा) बनता है। धर्मास्तिकाय द्रव्यतः एक द्रव्य है, क्षेत्रतः असंख्येय प्रदेशी है, कालतः उत्पाद व्यय ध्रुव लक्षणयुक्त अनादि अनन्त है, भाव से अरूपी और जीवपुद्गल को चलने मे सहायक है, वह अमूर्त है स्वय अचल है, अक्रिय अचेतन है। वह धर्मास्तिकाय जीव के साथ एक क्षेत्र मे रहता हुआ भी अलक्ष्य लक्षण वाला होने से अत्यन्त भिन्न होने के कारण जीव नहीं है। ऐसे ही अधर्मास्तिकाय भी जीव नहीं है, क्योकि स्थिति परिणत जीव पुद्गलों की स्थिति मे सहारा है, वह अधर्मास्तिकाय स्वय अचल है, द्रव्यतः एकद्रव्य, क्षेत्रतः असंख्यप्रदेशी, कालतः उत्पाद व्यय ध्रुव लक्षणवाला अनादि अनन्त है, भावतः स्थिति सहायी है। स्वय अमूर्त्त अचेतन अक्रिय है, वह जीव नहीं है।

तथा नभः—आकाश जो सर्वद्रव्यों को अवकाशदायी स्थान आधार है, स्वय अचल है। द्रव्यतः एक है, क्षेत्रतः अनन्तप्रदेशी है, कालतः उत्पाद व्यय ध्रौव्यलक्षण वाला और अनादि अनन्त है। भावतः अवगाह रूप है। अमूर्त अक्रिय अचेतन है। वह आकाशास्तिकाय भी जीव नहीं है। अर्थात् जीव धर्म अधर्म आकाश रूप नहीं है। अणु–परमाणु पूरण–गलन लक्षणवाला पुद्गलास्तिकाय है, पुद्गल परमाणु स्वरूप है और वे परमाणु अनन्त है। परमाणु का लक्षण इस प्रकार हैः—

तदत्यन्तसूक्ष्मो नित्यश्च भवति परमाणुः।
एक रसवर्णगन्धो द्विस्पर्शः कार्यलिङ्गी च ॥

अर्थ—परमाणु, अत्यन्तसूक्ष्म, नित्य, एक रस, एक वर्ण, एक गन्ध और दो स्पर्श वाला, तथा कार्य लिङ्गी होता है । वह परमाणु द्रव्यत अनन्त, क्षेत्रत अविभागी, आकाश के एक प्रदेश की अवगाहना वाला है । जहाँ एक परमाणु अवगाह कर रहता है, वहाँ अवगाहन के सूक्ष्म होने से अन्य अनन्त परमाणु अवगाह कर रहते है । यह परमाणु काल से वर्णादि, पर्यायों और अगुरुलघु पर्यायों से उत्पादव्यय ध्रुव लक्षण वाला, अनादि अनन्त है । भाव से मूर्त अचेतन व अक्रिय है । सखेय, असखेय, अनन्त प्रदेशों के स्कन्ध वनने की योग्यता वाला है । पुद्गल परमाणु भी जीव नहीं हो सकता तथा स्वजीव द्रव्य से अन्य जो सिद्ध और ससारी जीव है वे द्रव्य से अनन्त है । क्षेत्र से एक जीव, असख्यात प्रदेशावगाही है, काल से अनादि अनन्त है, भाव से अमूर्त है, गुण से चेतना गुण वाले है, वे सब मुझ से-सत् स्वभाव से भिन्न है । वे मैं नहीं हूँ, अत मै ही 'मैं' हूँ, पर रूप तो नहीं हूँ । तथा बन्ध के सत्तावन हेतु—पच मिथ्यात्व, वारह अविरति, पच्चीस कषाय और पन्द्रह योग हैं । उनमे पहले के तीन चेतना के व्याकुलता रूप हैं और योग वीर्य के चपलता रूप हैं, वे सत्तावन भी अशुद्धतारूप विभाव है । वे न जीव के धर्म हैं और न जीव के गुण है । आत्मा इन सवसे भिन्न है, सर्व का ज्ञाता है । वह बन्धन के हेतु रूप नही है ।

अब मिथ्यात्व एव कषायादि के अध्यवसाय-परिणाम-ससर्ग से उत्पन्न-अर्थात् जीव के साथ कर्मों का अनादि ससर्ग है और इनके—कर्मो के ससर्गवश आत्मा से ये उठते हैं । अत किन्हीं आत्माओं, विचारकों को इनमे आत्मत्व का व्यामोह हो जाता है । उसे दूर करने के लिए कहते है । पहले उनका अभीष्ट कहकर फिर निवारण करेंगे ।

उनका अभीष्ट-धारणा क्या है ? उसे कहते हैं—

१-नैसर्गिक रागद्वेष से कलुषित परिणाम ही जीव है, क्योंकि तथाविध

परिणाम आत्मा को अगारे के जैसा बना देता है, वह ही जीव है । इससे अतिरिक्त कुछ दूसरा नहीं मिलता है ।

२–अनादि अनन्त पूर्वापर भूत अवयव संसरण क्रिया रूप से क्रीड़ा करता हुआ कर्म ही जीव है, क्योंकि कर्म से अतिरिक्त कुछ दूसरा उपलब्ध नहीं होता ।

३–तीव्र और मन्द अनुभाव से भेद किये जाने योग्य दुरन्त राग द्वेष रस निर्भर अध्यवसायो–परिणामो की परम्परा ही जीव है इनसे अतिरिक्त कुछ प्राप्त नहीं होता ।

४–नवीन और प्राचीन भाव से प्रवर्त्तता हुआ नोकर्म–शरीर ही जीव है; क्योंकि शरीर से अतिरिक्त कुछ अन्य पदार्थ की सम्प्राप्ति नहीं होती ।

५–सभी पुण्यपाप रूपमय रूप से चारों ओर से अनुभव होने वाला विपाक ही जीव है, क्योकि शुभाशुभ भावों के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं मिल रहा ।

६–साता असाता रूप से अभिव्याप्त, समस्त तीव्र और मन्दत्व गुणों से विद्यमान, कर्मो का अनुभव ही जीव है । क्योंकि सुखदुःख के सिवाय और किसी की उपलब्धि नहीं होती ।

७–आत्मा व कर्म दोनों मिलित अवस्था मे रहे हैं और कर्म के अतिरिक्त अन्य कुछ उपलब्ध नहीं होता; अतः जीव, आत्मा व कर्म उभयात्मक है ।

८–क्रिया करने मे समर्थ कर्म सयोग ही जीव है । क्योकि अष्ट कर्म के सयोग के अतिरिक्त कुछ प्राप्त नहीं होता । इसी तरह के दूसरे भी अनेक प्रकार है । जिन्हें दुर्बुद्धिजन मानते हैं; और परमात्मा को भी वैसा ही कहते है । किन्तु परमार्थवादी उन्हें (ऐसा कहने वालों को) परमार्थवादी नहीं मानते, न कहते हैं । क्योकि—

इच्चाइ सव्वभावा पुग्गल जीवाइ जोग निप्फन्ना ।
विवरीय कत्थनाहि विहिया कह हुति ते जीवो ॥८॥

व्याख्या—उपर्युक्त सर्वभाव पुद्गल और जीव के सयोग से उत्पन्न होते है, ऐसा सर्वज्ञ केवलज्ञानी जिनेश्वर देवों ने कहा है । क्योंकि ये अध्यवसायादि भाव विश्वसाक्षी अर्हद भगवन्तो ने पुद्गल-द्रव्य के परिणाममय बतलाये है, जो चेतनाशून्य है, और चेतन को पुद्गल द्रव्य से अतिरिक्त बतलाया गया है, अत पुद्गल, चैतन्यस्वभाव वाला जीव नहीं हो सकता । यह केवल आगमों की युक्ति ही नहीं है, अनुभवसिद्ध भी है । जो अनुभव-सिद्ध है, उसे कैसे अस्वीकार किया जा सकता है । प्रत्यक्ष को झुठलाया नहीं जा सकता । जो आत्मवादी है वे ही परमार्थवादी है, और यही सर्वज्ञवचन-आगम है, और स्वानुभवगर्भित युक्ति तो है ही । (अब उपर्युक्त विभिन्न मान्यताओं का युक्तिपूर्वक खण्डन करते हुये ग्रन्थकार महानुभाव कह रहे हैं —)

१—नैसर्गिक रागद्वेष से कलुषित अध्यवसाय-परिणामवाला वैसे परिणाम के कारण निश्चय से तन्मय जीव नहीं है । क्योंकि जैसे कार्त्तस्वर सुवर्ण मे मिलावट के कारण जो कालिमा है, वह सुवर्ण की नहीं है, न वह सुवर्णरूप है । परीक्षक उस अन्य पदार्थ को मिलावट सिद्ध करता है और रसायनशास्त्री उसे दूर करने के लिए तपाने, तेजाब मे डालने आदि क्रियाओं के द्वारा कालिमा आदि दोषों को सुवर्ण से अलग करके सोने को शुद्ध बना देता है । वैसे ही विवेचकजनों द्वारा आत्मा भी चित्स्वभाव, रागद्वेषरहित समता व आनन्दमूर्त्तिरूप जाना देखा गया है । अत रागद्वेष आत्मा नही ।

२—अनादि अनन्त पूर्वापरभूत अवयववाला ससरण लक्षण क्रियारूप क्रीडा करता हुआ कर्म जीव है, ऐसा मानना भी उचित नही, क्योंकि कर्म से अतिरिक्त कर्म विपाक भी इन्द्रियों से जाना जाता है और आत्मा ज्ञातारूप अतीन्द्रिय व ज्ञान लक्षणवाला उपलब्ध है ।

३—तीव्र-मन्द अनुभाव से विद्यमान दुरन्त राग रस निर्भर, अध्यवसाय की परम्परा का बढ़ना-चलते रहना तद्रूप भी निश्चय से जीव नहीं है, क्योंकि विवेकी जनों द्वारा आत्मा चित्स्वभाव ज्ञानरूप जाना देखा व अनुभव किया जा रहा है।

४—नये पुराने आदि व्यवस्था-भेद को प्रवर्त्तमान नोकर्म (शरीर) भी जीव नहीं है; क्योंकि शरीरादि के अतिरिक्त अन्य की स्वय को ही अनुभूति हो रही है।

५—सर्व जगत् को पुण्य पापमय रूप से आक्रान्त करने वाला कर्मविपाक भी वास्तव मे जीव नहीं है; क्योंकि शुभाशुभ (पुण्य पाप) भाव के अतिरिक्त रूप से आत्मा ज्ञानानन्दमय उपलब्ध हो रहा है।

६—साता असातारूप से अभिव्याप्त, समस्त तीव्र मन्दत्व गुणों से भेद किया जाने वाला कर्मानुभाव भी जीव निश्चित रूप से नहीं है, क्योंकि सुख दुख के अतिरिक्त रूप से अव्याबाध अखण्ड मय, चित्स्वभावमय आत्मा का विवेकशील साधक स्वय अनुभव करता है।

७—जीव कर्म दोनों मिले हुये उभयात्मक रूप से उपलब्ध होते हैं; अतः जीव कर्म उभयात्मक आत्मा है, यह मान्यता भी मिथ्या है; क्योंकि वस्तु स्वभाव से आत्मा, समस्त पर सयोगों से अतिरिक्त अमूर्त, अखण्ड, अनन्तचैतन्यरूप से सदा ज्ञायक स्वभाव वाला स्वय को अनुभव करता है।

८—अर्थ क्रिया समर्थ कर्म सयोग जीव है, यह मान्यता भी ठीक नहीं; क्योंकि कर्म सयोग, पलग पर सोनेवाले पुरुषवत् है। जैसे पर्यकशायी पुरुष, पर्यक से पृथक् है; तद्वत् आत्मा भी अष्ट कर्मो से पृथक् है; क्योंकि बुद्धिमान् विवेकी जनों को स्व पर के विवेचन द्वारा कर्म का जड़ स्वभाव व आत्मा का चित्स्वभाव स्वतः अनुभव होता है।

यदि आत्मा की उपलब्धि के विषय मे साधक-आत्मा को किसी

प्रकार का संशय, भ्रम, या विप्रतिपत्ति हो, तो वह स्वयं अपने उपयोग-ज्ञान दर्शन से व आगमोक्ति की साक्षी से आत्मा का अनुशासन करे अर्थात् शिक्षा दे ।

विरम विरम भ्रातरात्मनो भिन्न भावात्
स्वयमपि चिद्रूप पश्य षण्मासमेकम् ॥
न खलु न खलु गच्छ स्वीयभाव परेषाम्,
भवति समुपलब्धि स्वात्मभावस्य पूर्णम् ॥१॥

हे चेतन । हे भ्रात। आत्मा से भिन्न स्वरूपवाले भोगों से विरम विरम अर्थात् उनसे विरक्त हो, विरक्त हो, और छह महीने की अवधि तक मात्र चिद्रूप आत्मा को स्वय देख । तथा अपने स्वभाव को परभावादि में मत लेजा, निश्चय से मत ले जा । ऐसा करने से ही स्वात्मभाव सम्पूर्ण रूप से उपलब्ध हो जाता है ।

अध्यवसायरूप मन के परिणाम जो सयोगजन्य है, वे अन्यरूप से भले ही प्रतिभासित न होते हो, पर वे अन्य ही है । शुद्ध आत्मा मे उनका सद्भाव नहीं है ऐसा जानकर जैसे जिसकी पाद गमन शक्ति न्यून या मन्द है, वह लकडी या बेत का सहारा लेकर चलता है, पर उसे भूषण रूप नहीं मानता, बल्कि सामर्थ्य की कमी का चिन्ह मानता है, वैसे ही साधक दशा मे निमित्त का आलम्बन भी आत्मा की अपूर्णता का लिग-चिन्ह है । विशेष क्या कहे, ज्ञायक आनन्द रूपस्थ साधर्म्य परद्रव्य का आलम्बन भी अपनी सामर्थ्य की न्यूनता के निवारण के लिये है, आत्मा की पूर्णता के लिये नहीं है । आत्मा के अतिरिक्त सभी भाव जड हैं—इसी को कहते है,

स अट्ठविह पि य कम्म सव्व पुग्गलमय भणति केवलिणो ।
जस्स फल सव्वपि रोहग आयधम्मस्स ॥९॥

व्याख्या—योग स्थान, कषायस्थानादि अशुद्ध अध्यवसाय मनः परिणामों की उत्पत्ति आदि सभी अष्ट विध कर्म जनित भाव पुद्गलमय है, ऐसा सर्व केवलज्ञानी कहते हैं । उन कर्ममय पुद्गलों का जो विपाक काष्ठ शाखा दिशा मे आये हुये फल रूप से अभिलिप्त–सम्बद्ध है, वह अनाकुलत्व लक्षण सुख नामक आत्म स्वभाव के लक्ष्यहीन होने से दुःख रूप हो जाता है और उसमे होने वाले मन के अध्यवसाय जो आकुलता लक्षण वाले हैं; वे भी वैसे हो जाते हैं । अतः वे चिदन्वय का विभ्रम होने पर भी आत्मा के स्वभाव नहीं है; किन्तु पुद्गल के स्वभाव हैं । कोई शका करे कि जब अध्यवसायादि पुद्गल के स्वभाव हैं; तो उन्हें जीवत्व रूप से क्यों सूचित किया गया है ? समाधान यह है, कि जिनेश्वरदेवों ने व्यवहार का दर्शन कराने को ऐसा कहा है । जीव मुक्त पुद्गलों मे योग कषायादि विकार वास्तव मे नहीं होते किन्तु तीर्थ–प्रवृत्ति के लिये व्यवहार से उनमे जीवत्व निरूपण किया है । जैसा कि आत्मा आठ प्रकार का आगम मे है । द्रव्य आत्मा, कषायात्मा, योगात्मादि । वह इसीलिये हैं कि जीव इनसे निवृत्त होकर, ज्ञानात्मा दर्शनात्मादि बने । यदि ऐसा न कहते और परमार्थ से जीव पुद्गल भिन्न ही हैं, तो त्रस स्थावरादि जीवों का भस्मवत् निःशक उपमर्दन करते हुये हिसा भी नहीं होती और उस हिसा के अभाव मे बन्ध भी नही होता । तब जो स्थिति प्रत्यक्ष है; उसका भी अपलाप हो जाता और न किसी के बन्ध होता, न भोग, और न मुक्ति, और इनके अभाव मे उपदेश की भी क्या आवश्यकता थी ? परन्तु ऐसा है नहीं ! जीव राग द्वेष के परिणामों से बधा हुआ है, अनादिकाल से बन्धता है । अतः इन दोषों के कारण जन्म मरण की परम्परा बढ़ती है और आत्मा दुःख भोगता है । स्वाभाविक भावदया से प्रेरित और सर्व ज्ञानी तीर्थंकर महापुरुष आत्माओं की मुक्ति के लिये ही, धर्ममार्ग का उपदेश देते हैं । और राग–द्वेष से बधते हुए विमूढ जीव को

मुक्त करना है, अत वह राग-द्वेष मोहादि का परमार्थ से भेद दिखलाने पर ही मुक्त होने का उपाय ग्रहण करने का प्रयत्न करेगा । बन्ध का निश्चय से अभाव मान लेने पर तो मोक्ष का भी अभाव हो जाता है । ये राग-द्वेष जीव से भिन्न है, ऐसा है तो जीव का क्या लक्षण है ? और वास्तव में जीव का स्वरूप कैसा है ?

इस प्रश्न का उत्तर देते हुए ग्रन्थकार कहते है—

अरसमरूवमगध अव्वत्त वेयणा गुणमसद्द ।
जाणगलिगग्गहण जीवमणिद्दिट्ठ सठाण ॥१०॥

व्याख्या—वह रस जो पुद्गल का गुण है, पुद्गल द्रव्य से भिन्न नहीं रहता । आत्मा स्वय पुद्गल द्रव्य के गुणो से भिन्न है, क्योकि उन पर परमार्थ से आत्मा का स्वामित्व नहीं है । यह प्रत्यक्ष सिद्ध है, कि द्रव्येन्द्रिय के अवष्टब्ध हो जाने अर्थात् रोगादि कारण से जिह्वा की शक्ति नष्ट हो जाने पर स्वाद का अनुभव नहीं होता । भावेन्द्रियाँ व द्रव्येन्द्रियाँ क्षायोपशमिक भाव से होती है और भावेन्द्रिय के आलम्बन से द्रव्येन्द्रियाँ अपना विषय ग्रहण करने मे समर्थ होती है । सकल ज्ञेय ज्ञायक के तादात्म्य वाले आत्मा के रस ज्ञानरूप परिणत होने पर भी स्वय रस रूप परिणत नही होता, अत आत्मा 'अरस' है । इसी प्रकार आत्मा अरूप, अगन्ध, अस्पर्श और शब्द रहित (अशब्द) है, श्रुत ज्ञान से सज्ञादि का ग्रहण करने वाला होने पर भी स्वय अशब्द है । द्रव्यान्तर अर्थात् अन्य द्रव्य से बने हुए शरीरसस्थान से ही सस्थान है, ऐसा निर्दिष्ट करना अशक्य है क्योंकि नियत स्वभाव से अनियत सस्थान अत शरीरवर्ती होता है, और सस्थाननामकर्म के, विपाक का निर्देश पुद्गलों मे होता है । इस तरह आत्मा चारों ओर से समस्त वस्तुओं से सबलित (घिरा हुआ) है । सहज सवेदन (ज्ञान) होने पर भी स्वय अखिल लोक सबलनशून्य है,

और निर्मल अनुभूति वाला तथा संस्थानरहित है । जीव का कोई सस्थान निर्दिष्ट नहीं है, षड्द्रव्यात्मक लोक की ज्ञेयादि रूप से व्यक्तता होने से क्षणिक व्यक्ति-मात्र के अभाव से अव्यक्त रूप प्रतिभासता हुआ भी, व्यक्त स्पर्शवाला होने से, स्वयमेव बाह्य अभ्यन्तर स्पष्ट अनुभव किया जाता हुआ और व्यक्त होने पर भी क्षण मे ही प्रद्योतमान होने से अव्यक्त है । रस, रूप, गन्ध, स्पर्श, शब्द, सस्थान और व्यक्तत्व के अभाव मे भी स्वसवेदन बल से नित्य मानते हुए, प्रत्यक्ष न होने पर भी अनुमेय मात्र होने सें, अलिग आत्मा का ग्रहण है । सारा ज्ञान (प्रमायी* विवेचक के सर्वस्व समर्पित है) समस्त लोकालोक को पूर्णरूप से बिना किसी की सहायता के सर्वकाल के भावों से किञ्चित् भी विचलित नही होते हुए अनन्य साधारणतया स्वभावभूत स्वय अनुभव किए जाते हुए चेतना गुण से सदैव अन्तः प्रकाशमान होने से और चेतनागुण होने से वही आत्मा निर्मल आलोक वाला भगवान्-स्वरूप अकेला टकोत्कीर्ण प्रत्यक्ष ज्योति ही जीव है । सर्व भावों से ऊपर, और सर्व अनन्त पर-द्रव्यो से भिन्न सर्व ज्ञेय का ज्ञायक, ऐसा आत्मा आत्मरूप से स्वीकार करो, यह ग्रन्थकार का उपदेश है । आत्मा के अतिरिक्त सभी भाव पौद्गलिक और पुद्गलयोग जन्य हैं । और कहा भी—

जीवस्स नत्थि वण्णो, णवि गंधो नवि रसो णवि य फासो ।
णवि सद्दं न सरीरं, णवि सठाणं न संहणणं ॥१॥
जीवस्स णत्थि रागो, णवि दोसो ण विज्जए मोहो ।
णो पच्चयाणकम्म, णो कम्म चावि सेणत्थि ॥२॥
जीवस्स णत्थि वग्गो, ण वग्गणा णेव प्फड्डया केई ।
णो अज्झवसाणा, णेव अणुभाग गणाणि ॥३॥

* प्रज्ञायुक्त विस्तृत विवेचक के आधीन है । सूक्ष्म दृष्टि से ज्ञायकत्व है ।

आयस्स णत्थि केई जोगट्ठाणा ण वचणा वा ।

णेव य उदयट्ठाणा ण मग्गणाठाण माईया ॥४॥

णो ठिई वघट्ठाणा, ण ठिई ठाणा ण सकिलेस ठाणा य ।

णेव विसेहीठाणा सजमा लद्धि ठाणा य । ॥५॥

णेव य जीवट्ठाणा, ण गुणठाणा मीसभावा जे ।

ए ए पुग्गलप्पभवा पुग्गलसजोग पभवा य ॥६॥

व्याख्या—त्रिकाल अखण्डित चेतनादि लक्षणवान् जीव के श्वेतादि वर्ण, सुरभि दुरभिरूप गन्ध, तिक्तादि रस, गुरु लघु शीत-उष्ण आदि स्पर्श, और शुभाशुभ मिश्रादि भाषा रूप शब्द नही है । ये जीव के गुण नहीं है । चेतना अनुभूति से भिन्न ये सब पुद्गलद्रव्य के परिणाम हैं । जो औदारिक वैक्रियक अथवा तेजस, कार्मण शरीर आदि है ये भी जीव के नहीं है । पुद्गल द्रव्य परिणाम मय होने से अनुभूति भिन्न है । आत्मा की शुद्ध चेतना से अवष्टब्ध शरीर रागयुक्त आत्मा के वीर्य से गृहीत शरीर नाम कर्म प्रकृतिविपाकोदयजन्य होने से आत्मस्वरूप नहीं है । समचतुरस्रादि सस्थान और वज्रर्षभनाराचादि सघयण भी पुद्गलस्कन्ध होने से जीव नहीं हैं । जो प्रीति रूप राग है, वह भी कषाय से अवष्टब्ध चेतनाशक्ति द्वारा गृहीत कर्मोदय का मूल है, अत आत्मा राग रूप नहीं है क्योंकि जीव के अनादि पुद्गल भोग से उत्पन्न, इष्टता के परिणामरूप राग का आत्मा के स्वभाव के प्रकट होने पर सर्वथा अभाव हो जाता है । द्वेष भी अप्रीति का परिणाम है क्योंकि पर-जड-पुद्गल सयोग के निमित्त से उत्पन्न होता है और आत्मा का स्वभाव नहीं है और तत्व का अज्ञान रूप मोह है, वह भी आत्मा का नहीं, क्योंकि विपर्यस्त चेतना से बधे हुए जो मिथ्यात्वरूप पुद्गल है, उनके उदय से मोह उत्पन्न होता है । मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग लक्षण जो कर्मबन्धन के हेतु है

वे भी सब जीव के नहीं है क्योकि ये सब पुद्गल परिणाममय हैं । आत्मा मे जड़ सग से अशुद्ध अध्यवसाय रूप विपाक के उदय से ये उत्पन्न होते हैं और आत्म-स्वरूप से विभिन्न हैं और जो ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तरायरूप आठ कर्म हैं; वे भी उक्त हेतु परिणत आत्मा के वीर्य से गृहीत कार्मण वर्गणा के समूह रूप होने से, आत्मा के गुणों को रोकने रूप विपाक वाले होने और स्व-स्वभाव से भिन्न होने से आत्मा नहीं है ।

आहारपर्याप्ति द्वारा गृहीत पुद्गल परिणमन रूप नोकर्म-पच शरीर आदि की ३६ प्रकृतियाँ इस प्रकार हैं—

नाम धुवोदय चउतणु वघायसाहारणियर जोयतिगं ।
पुग्गलविवागि बंधो पयइठिइ-रसपयेसत्ति ॥२१॥

(पंचमकर्मग्रन्थ)

अर्थ—नाम कर्म की १३ ध्रुवोदय प्रकृतिर्यां—१. निर्माण २. स्थिर ३. अस्थिर ४. अगुरुलघु ५. शुभ ६. अशुभ ७. तेजस ८. कार्मण ९. वर्ण १0. गन्ध ११. रस १२. स्पर्श १३. अन्य प्रकृतियाँ औदारिक शरीर १४. वैक्रियिक शरीर १५. आहारक शरीर १६. औदारिक अगोपाग १७. वैक्रियक अगोपाग १८. आहारक अगोपाग १९. समचतुरस्र २0. न्यग्रोध २१. सादि २२. वामन २३. कुब्ज २४. हुण्ड, ये ६ सस्थान। २५. वज्रर्षभनाराच २६. ऋषभनाराच २७. नाराच २८. अर्द्धनाराच २९. कीलक ३0. सेवार्त्त ये छहः सहनन । ३१. उपघात ३२. साधारण ३३. प्रत्येक ३४. उद्योत ३५. आतप ३६. पराघात । ये ३६ प्रकृतियाँ पुद्गल विपाकिनी हैं । ये पुद्गल परमाणुओं मे ही अपना फल देती हैं ।

ये भी जीव नहीं है क्योकि नोकर्म औदारिकादि ५ वर्गणा के स्कन्धस्वरूप शरीर हैं । अतः नोकर्म जीव नहीं हो सकता । शरीर कर्म वर्गणा से बना हुआ है । सत्तागत प्रकृति विपाकोदय से औदारिकादि नये

पुद्गलों का स्कन्धरूप है और आत्मा के अशरीरी आदि गुणों का रोधक तथा आत्मशक्ति से भिन्न है ।

अनन्त जीवों का एक शरीर मे रहने रूप लक्षण वर्ग कहा जाता है, वह भी जीव का स्वरूप नहीं है, क्योंकि वह साधारण नाम कर्म-विपाकजन्य है और वर्ग से सभी जीवों की अवगाहना भिन्न है । वर्गणा भी जीव नहीं है । वर्गणा ८ है । १ औदारिक २ वैक्रियक ३ आहारक ४ तैजस ५ भाषा ६ श्वासोच्छ्वास ७ मन और ८ कार्मण । ये दो दो प्रकार की है—१ ग्रहण योग्य २ अग्रहण योग्य । ऐसे इनके १६ भेद हैं । ध्रुवाध्रुव दोनों शून्या है—

प्रत्येका शून्या, वादर साधारणा शून्या, सूक्ष्म साधारणा शून्या, अचित्त महास्कन्ध रूपा आदि इन वर्गणाओं के २८ भेद है । ये सब पुद्गलों का समूह होने से व आत्मानुभूति से भिन्न होने के कारण जीव नहीं हो सकतीं ।

स्पर्द्धक—(जीव के द्वारा एक समय मे ग्रहण योग्य पुद्गल समूह विशेष) भी जीव नहीं है ।

जो अति तीव्र या मन्द रस वन्ध हेतुभूत कर्म दल विशिष्ट के न्यास (रखने) लक्षण रूप स्पर्द्धक स्थान है, वे सब जीव के नहीं है, अपितु स्वपर के एकत्व का अभ्यास होने पर शुद्ध चित् परिणामों से अतिरिक्त लक्षण वाले सर्व अशुद्ध अध्यवसान स्थान के उत्पन्न विशिष्ट प्रकृति रस परिणाम लक्षण वाले अनुभाग स्थान है । वे यथार्थ आत्म स्वरूप मे नहीं हैं, अत आत्मा के नहीं है ।

योगस्थान भी आत्मा के नहीं है, काय, वाड् मनोयोग रूप वीर्य-शक्ति विशेष से अविभागी चल वीर्य लक्षण भाव योग स्थान हैं । और काय वाड् मनोवर्गणा रूप द्रव्य योग है, अत आत्म स्वरूप नहीं हो सकते ।

बन्धस्थान भी आत्मा के नहीं है । प्रतिविशिष्ट प्रकृति परिणाम लक्षण जो बन्धस्थान हैं, वे भी सर्व विभावजन्य हैं; अतः आत्मा के नहीं हो सकते । और जो स्वफल देने मे समर्थ कर्म अवस्था लक्षण रूप उदयस्थान हैं; वे भी जीव के नहीं है ।

गति आदि चौदह मार्गणा :—१. गति २. इन्द्रिय ३. काय ४. योग ५. वेद ६. कषाय ७. ज्ञान ८. सयम ९. दर्शन १0. लेश्या ११. भव्यत्व १२. सम्यक्त्व १३. सज्ञित्व १४. आहारकत्व । ये भी आत्मरूप न होने से आत्मा के नहीं हैं ।

इसीप्रकार स्थितिबन्धस्थान, स्थितिस्थान, सक्लेशस्थान, विशुद्धिस्थान, संयमस्थान, लब्धिस्थान, जीवस्थान और गुणस्थान आदि जो मिश्र (जीव पुद्गल के योग से होने वाले) भाव हैं; वे सब पुद्गल जनित और पुद्गलसयोग जनित हैं अतः मिथ्यात्वादि चौदह गुण–स्थान भी साधक अवस्थारूप होने से उत्सर्ग स्वरूपोपादान से आत्मस्वरूप नहीं है ।

इसप्रकार इन सब से भिन्न, चिदानन्दरूप सम्यग्–ज्ञानदर्शन अव्याबाधादि, अनन्तधर्मात्मक, नित्यादि अनन्त स्वभावमय आत्मा है । रागादि सभी विभाव हैं वे जीव के नहीं हैं । इन परभावो और पर सयोगजन्य भावों से आत्मा पृथक ही है । यहाँ इतना ध्यान रखना है, कि व्यवहारनय वास्तव में अशुद्ध पर्यायाश्रित होने से "जीव के पुद्गल सयोग वश से अनादिबन्ध पर्याय का उदय है और पर्याय, कुसुम्भ (कसूम्वा) से रगे हुये सूती वस्त्र के समान हैं, औपाधिक भाव का अवलम्बन लेकर जीव परभाव को अपना भाव समझ कर करता है, व्यवहारनय से ऐसा मानता है । निश्चयनय तो शुद्ध द्रव्य पर्यायाश्रित होने से केवल जीव के स्वाभाविक भाव को अवलम्ब कर चलता है और समस्त परभाव का निषेध करता है । अतः वर्णादि तथा गुणस्थानादि अनन्त भाव जो जीव के व्यवहारनय की अपेक्षा से हैं; वे निश्चयनय की अपेक्षा से जीव के नही होते, ऐसी प्रज्ञापना करना युक्तियुक्त है ।

अब यहाँ यह शका होती है कि वर्णादि भाव जीव के निश्चय नय से है ही नहीं, तो ससारी जीव के यह सब कैसे दिखते है ? इसका समाधान यों है —

ए एहिय सबधी जहेव खीरोदय मुणेयव्वो ।
णय होंति तस्स ताणिओ उवओग गुणाहिओ जम्हा ॥१७॥

व्याख्या —जैसे पानी मिले हुये दुग्ध का जल के साथ परस्पर अवगाहन लक्षण सम्बन्ध होने पर भी स्व-लक्षण क्षीरत्व व्याप्य होने से व जल से अधिक रूप से प्रतीत होने से दुग्ध जल नहीं है । और जल दुग्ध नहीं है । तथा जल और दुग्ध मे उष्णता अग्नि के सम्पर्क से होती है, वह भी जल या दुग्ध का स्वभाव नहीं, क्योंकि अग्नि व जल का तादात्म्य सबन्ध नही है । उसी प्रकार वर्णादि पुद्गल द्रव्य परिणाममिश्रित आत्मा का पुद्गल द्रव्य के साथ परस्पर अवगाहन लक्षण सम्बन्ध होने पर भी आत्मा का स्वलक्षण तो उपयोग गुण व्याप्यतया सर्व पर-द्रव्यों से अधिकता रूप प्रतीत हो रहा है, अत पुद्गल व आत्मा का सम्बन्ध क्षीर नीरवत् या जल उष्णता रूप है । जल का द्रवत्व और अग्नि का उष्णत्व जो गुण है, इनके कारण क्षीर नीर का व जल उष्णता का तादात्म्य लक्षण सम्बन्ध प्रतीत होता है, पर इनका सम्बन्ध तादात्म्य नहीं है, क्योंकि क्षीर से नीर पृथक किया जा सकता है । जल का सम्पर्क अग्नि से हटने पर वह शीतल हो जाता है । उसी प्रकार आत्मा के भी जो वर्णादि विविध भाव प्रतीत होते है, वे निश्चय से आत्मा के स्वरूप या भाव नहीं है । अत आत्मा सर्व परभावों से वास्तव मे भिन्न है और वही उपादेय है । इसी को विशेष रूप से परिपुष्ट करने के लिये कहते हैं—

तत्थ भवे जीवाणा ससारत्थाण होंति वण्णाई ।
ससार पमुक्काण णत्थि हु वण्णादओ कोई ॥१८॥

व्याख्याः—जो सभी अवस्थाओं मे तादात्म्य रूप से व्याप्त होता है, तादात्मकत्व व्याप्तिशून्य नहीं होता और तब उसका उसके साथ तादात्म्य लक्षण सम्बन्ध कहलाता है । अर्थात् उसी को तादात्म्य लक्षण सम्बन्ध कहते हैं ।

सासारिक सभी अवस्थाओं मे वर्णादि व्याप्त जीव का वर्णादि की व्याप्ति से शून्य हो जाने पर शुद्ध रूप होता है ।

"वही तादात्म्य सम्बन्ध है जो सब अवस्थाओं मे रहे" यद्यपि जीव का संसार अवस्था मे वर्णादि के साथ एकत्व है फिर भी, सिद्धावस्था मे वह सर्वथा वर्णादि से विमुक्त हो जाता है । अतः वर्णादि के साथ जीव का तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है । कई लोग वर्णादि भाव पुद्गल द्रव्य का अनुगमन करते हुये, पुद्गल के वर्णादि के साथ तादात्म्य विशेष रूप से प्रकट करते हैं; वैसे ही ये वर्णादि भाव क्रमशः जीव का अनुगमन करते हुये रहते हैं अतः जीव का वर्णादि के साथ भी तादात्म्य है" । इस प्रकार का अभिनिवेश रखने वाले हैं । उनके मत मे असाधारण वर्णादि पुद्गल लक्षण, पुद्गल द्रव्य का जीव के साथ स्वीकार करने से जीव और पुद्गल की अविशेष प्रसक्ति (मिलन) होने पर भिन्न जीव का अभाव हो जाता है और तब आत्मा का भी अभाव हो जाता है । वास्तव मे ससारी जीव का पुद्गल के साथ सयोग सम्बन्ध है, तादात्म्य सम्बन्ध नही । इस प्रकार यह सिद्ध हो गया कि वर्णादि भाव जीव नहीं है, और रागादि भाव भी जीव के स्वभाव नहीं है किन्तु चारित्रमोहनीय के विपाक से उत्पन्न अव्रत रूप है । तथा क्षमामार्दवादि धर्मवान् आत्मा भी इस चारित्रमोहनीय के उदय से कलुषीकृत आत्मा होते हैं । अर्थात् आत्मा को मलीन बनाते है । और कलुषीकृत चेतनामय हेतुमद् क्षयोपशम भाव वाले आत्मा के रागादिभाव होते हैं, वे हेतुमद् भाव से उत्पन्न होने के कारण व्युत्पत्ति लक्षण संयोग सम्बन्ध से ही है क्योंकि विभावों का तादात्म्य लक्षण

सम्बन्ध नहीं है । इस प्रकार जो भाव, कर्म निमित्त से होते है, वे जीव के स्वभाव-स्वधर्म नहीं । और ऐसे ही साधक अवस्था मे होने वाले धर्मध्यान शुक्लध्यान आयुजीकरण आदि जो सिद्धत्व रूप कार्य का निष्पादन करने के लिये आत्मा के द्वारा किये जाते हैं और आत्मागुण एकत्व भाव है, वे भी सिद्धत्व अवस्था मे प्राप्त न होने से ज्ञानादि गुणवान् आत्मा के स्वधर्म नहीं हैं, क्योंकि वे साधक अवस्था मे ही उपलब्ध होते हैं । पूर्ण अखण्ड सिद्धावस्था मे नहीं मिलने वाले वे भाव, स्वरूप नहीं है । स्वरूप की उत्पत्ति मे सहायक रूप मात्र है । इस प्रकार इन समस्त और इस प्रकार के भावों से भिन्न, शुद्ध आनन्द लक्षण आत्मा ही श्रद्धेय-अर्थात् श्रद्धा करने योग्य है ।

तब आत्मा का वास्तविक स्वरूप क्या है । इस जिज्ञासा की शान्ति हेतु कहते हैं —

अनाद्यनन्तमचल स्वसवेद्य सदा शुचि ।
निष्कलङ्कमसयुक्त स्वरूपस्थमजमृजु ॥१॥
सज्ज्ञानदर्शनानन्द-रूप चारित्रलक्षणम् ।
अमूर्त्त-पूर्णविज्ञान स्वसत्ताभाववेदकम् ॥२॥

अर्थ —आत्मा अनादि, अनन्त, अचल, स्वसवेद्य अर्थात् स्व के जानने योग्य, सदा पवित्र, निष्कलङ्क किसी के साथ सयुक्त नहीं है । स्वरूप मे रहा हुआ, अजन्मा और ऋृजु सरल है । ॥१॥

सम्यग्ज्ञान सम्यग्दर्शन और स्व आनन्द रूप चारित्र लक्षण वाला है, अमूर्त, पूर्ण विज्ञानी तथा स्वसत्ता भाव का अनुभव करने वाला है ॥२॥

अनादि परभाव-जड के ससर्ग से समुद्भूत विपर्यय व्यामोह आदि दोष समूह के सन्निपात से एकेन्द्रिय द्विइन्द्रिय, त्रिइन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पञ्चेन्द्रिय आदिरूप से भव नाटक करता हुआ यह न नट है, न नाटक

इसका रूप है । यह शुद्ध चिदानन्द स्वभाव वाला होते हुये भी ज्ञानावरणीयादि कर्मों के विपाक से आवृत ज्ञानादि गुण के उपकरण रूप से प्रवृत्त होता हुआ, स्वीय धर्म कर्त्तृत्वादि शक्ति वाला होने पर भी पुद्गल, भोग, ग्रहण अनुयायी, कर्त्ता रूप से परभाव करता हुआ, द्रव्यकर्म नोकर्म करने से तद् भोग्य भोगीभूत जानता है और परभाव की एकता से दुःख को भी सुखबुद्धि से भोगता हुआ, पुनःपुनः उसी परभाव को करता है; तथापि न वह आत्मा परभाव का कर्त्ता है न भोक्ता । जैसे नीचे का उदाहरण हैः—रजः पर्व (धूलण्डी) क्रीड़ा मे लीन असयमी पुरुष असत् पुरुषों द्वारा धूल से भरा जाने, असत् कलंक दिये जाने, असभ्य अश्लील शब्दों द्वारा उपहास किये जाने पर भी जैसे प्रसन्न होता है । वैसे ही जो जीव मोहग्रस्त है, वह कर्मादि परभाव का कर्त्ता भोक्ता असद् भावो के द्वारा कहा जाने पर भी वर्तमान अवस्था मे ही अज्ञानवश मग्न रहता है । अतएव तीर्थङ्कर प्रणीत आगम श्रवणादि द्वारा आत्मा की यथार्थ श्रद्धायुक्त हो स्वपर का अवभासन (ज्ञान) कराने वाले ज्ञान द्वारा पुद्गलादि परभावों से अपने को पृथक करने वाले भेदज्ञान की धारा से भिन्न करने योग्य है । ऐसा विचार करना योग्य है कि मै इनका कर्त्ता, भोक्ता और ग्राहक भी नहीं हूँ मै तो अपने असख्य प्रदेशों से तादात्म्य भावभूत अपने ज्ञानदर्शनादि गुणों से पूर्ण हूँ । स्वगुणों का कर्त्ता भी और भोक्ता भी स्वगुणों का हूँ । स्वगुणों का ही पात्र हूँ । रागादि सयोगज भाव मेरे नहीं है, न मै सयोग का कर्त्ता हूँ' इस प्रकार स्वपर को विवक्त करने वाला आत्मा स्वगुणों के आविर्भाव के कार्य का कर्त्ता है, अपने ही गुणों को स्वरूप का अनुगत करने की सामर्थ्य यहाँ प्रकाशित होती है । आत्मा स्वयं दाता और स्वय ही लाभरूप है, स्वय ही भोक्ता और स्वयं ही भोग्य रूप है ऐसा निश्चय करके अपना आत्मा स्वाभाविक सहज आत्यन्तिक ऐकान्तिक बिना किसी प्रयास या आयास के सम्पत्

विलासीरूप से साध्य है । अनादि कालीन ससार नाटक का ध्वंसेन नाश सम्यक् ज्ञान और सम्यग्चारित्र के अभ्यास से करना है । तथा पूर्णानन्द अव्याबाध सुख की सिद्धि करनी है, अथच अजीव पुद्गल जड से जीव को पृथक करना है । ऊपर बताई युक्तियों से सिद्ध हो गया कि जीव, अजीव से भिन्न है ।

इत्थ ज्ञानक्रकचकलनाभेद–भेदेन भित्वा,
जीवाजीवौ स्फुटविभजन स्वान्यभेद च कृत्वा ।
लोकालोक सकलमपि विदन् व्यक्त चिन्मात्रशक्त्या,
ज्ञातृ द्रव्य स्वयमतितरातावदुच्चैश्वकासे ॥४॥

इस प्रकार ज्ञानरूपी क्रकच–शस्त्र विशेष (करोत या आरा) के प्रयोग से, आत्मा व जड का भेद करके जीव अजीव का स्पष्ट रूप से पृथक्त्व करने से स्वपर का भेद करके समस्त लोकालोक को जानता हुआ अभिव्यक्त चिन्मात्र शक्ति से ज्ञाताद्रव्य स्वय आत्मा उत्कृष्ट रूप से प्रकाशित होता है ।

"इति जीवाजीव विभजनरूपो द्वितीयोऽधिकार"

॥ पुण्य–पाप वर्णन नाम तृतीय अधिकार ॥

अब पुण्य पाप से भी यह आत्मा भिन्न ही है, इसका निरूपण करते है —

पुन्नमवि कम्म पुग्गलखधभूय तहेव पाव च ।
हेऊ परिणामेण विवागभेय विणिच्छिद्द ॥१॥

व्याख्या —पुण्य शुभ विपाक है, तथापि है तो कर्मपुद्गलस्कन्धभूत ही, और पाप भी कर्मपुद्गलस्कन्धभूत ही है । मिथ्यात्वादि हेतु परिणामों का जो शुभाशुभ है, उन्ही का यह व्यापार है अत विपाक भेद है, किन्तु ये आत्म धर्म स्वरूप नहीं, और कर्मप्रकृति रूप होने से पुण्य पाप दोनों

का क्षय होने पर ही मोक्ष होता है । विशेषावश्यक में कहा हैः—

"पुण्णफलं दुक्खं चिअ, कम्मोदयओ फलेव पावस्स ।

अर्थः—कर्मोदय से होने वाले पाप के फल के समान ही पुण्य फल भी दुःख है ।

"सायासायं दुक्खं तव्विरहम्मि अ सुहोते ।

ते देहिंदिएसु दुक्खं सुक्खं देहिंदिया भावो ॥२॥

साता असाता दोनों ही दुःख रूप हैं । इनके–साता असाता वेदनीय के न रहने पर सुख है । वे देह और इन्द्रियाँ के होते हैं । वे सुख दुःख हैं, देहेन्द्रिय के भाव हैं ।

इस प्रकार पुण्य भी आत्मधर्म नहीं है । तथा उत्तराध्ययन मे भी यही कहा गया हैः—

दुविहं खवेऊण य पुन्न पाव,

निरंगणो सव्व उ विप्पमुक्को ।

तरित्ता समुद्दं च महाभवोह,

समुद्दपालेव अपुणागमं गई गए ॥

अर्थः—पुण्य और पाप दोनों को क्षय करके, निरंग–शरीर रहित आत्मा सर्व से अत्यन्तमुक्त आत्मा, महाभव–ससाररूप समुद्र को पार करके अपुनरागम रूप गति (भव समुद्र के तीर पर) अर्थात् मुक्ति मे चला गया ।

जे तो चिअ पच्चक्खं सोममसुहं नत्थि दुक्खमेवेदं ।

तप्पडियार विभत्तं नो पुण्ण फलति पुक्खति संठाणा ॥३॥

अर्थः—जो प्रत्यक्ष सुख रूप दिखता है, वह सुख नहीं, प्रत्युत दुःख ही है । उसका प्रतिकार ऐसे होता है कि यह पुण्यफल होने पर भी दुःखदाता ही है क्योंकि भोगने का विपाक भी दुःख रूप ही भोगना पड़ता है । पुण्य के निम्नलिखित बयालीस भेद हैः—

सा उच्चगोअ मणुदुग, सुरदुग पचिंदिय जाइ पण देहा ।
आइतितणूणुवगा, आइमसघयण सठाणा ॥१५॥
वण्णचउक्कागुरुलहु, परघाउस्सास आयवुज्जोअ ।
सुभखगइनिमिणतसदस, सुर नर तिरिआउ तित्थयर ॥१६॥
तस बायर पज्जत्त पत्तेअ थिर सुभ च सुभग च ।
सुस्सर आइज्ज जस, तसाइ दसग इम होइ ॥१७॥
(नवतत्त्व प्रकरण)

अर्थ—१ साता वेदनीय २ उच्चगोत्र ३ मनुष्यगति ४ मनुष्यानुपूर्वी ५ देवगति ६ देवानुपूर्वी ७ पचेन्द्रियजाति पाँच शरीर ८ औदारिक ९ वैक्रायिक १० आहारक ११ तैजस १२ कार्मण । तीन अगोपाग —१३ औदारिक अगोपाग १४ वैक्रियक अगोपाग १५ आहारक अगोपाग १६ वज्रर्षभनाराच सघयण १७ समचतुरस्र सस्थान, शुभ वर्ण चतुष्क–१८ वर्ण १९ गन्ध २० रस २१ स्पर्श, २२ अगुरुलघु नाम कर्म २३ पराघात २४ स्वासोच्छ्वास २५ आतप २६ उद्योत २७ शुभ विहायोगति २८ निर्माण । त्रसदशक २९ त्रस ३० बादर ३१ पर्याप्त ३२ प्रत्येक ३३ स्थिर ३४ शुभ ३५ सुभग ३६ सुस्वर ३७ आदेय ३८ यश कीर्ति ३९ देवायु ४० मनुष्यायु ४१ तिर्यगायु ४२ तीर्थङ्कर नाम कर्म । ये पुण्य प्रकृतियाँ है ।

पापतत्व की ८२ प्रकृतियॉ इस प्रकार हैं —

नाणतरायदसग, नव बीये नीयअसाय मिच्छत्त ।
थावरदस–निरयतिग कसाय पणवीस तिरियदुग ॥१८॥
इग–वि–ति–चउ, जाईओ, कुखगइ उवघाय हुति पावस्स ।
अपसत्थ वण्ण चउ अपढम सघयण सठाणा ॥१९॥
(नवतत्त्व प्रकरण)

अर्थः—ज्ञानावरणीय कर्म की पाँच–१ मति ज्ञानावरणीय २ श्रुत ज्ञानावरणीय ३ अवधि ज्ञानावरणीय ४ मनःपर्याय ज्ञानावरणीय ५ केवल ज्ञानावरणीय । पाच अन्तराय की–६ दानान्तराय ७ लाभान्तराय ८ भोगान्तराय ९ उपभोगान्तराय १० वीर्यान्तराय । दर्शनावरणीय की नवः—११ चक्षुदर्शनावरणीय १२ अचक्षुदर्शनावरणीय १३ अवधि दर्शनावरणीय १४ केवल दर्शनावरणीय १५ निद्रा १६ निद्रानिद्रा १७ प्रचला १८ प्रचलाप्रचला १९ स्त्यानर्द्धि २० नीच गोत्र २१ असाता–वेदनीय २२ मिथ्यात्व मोहनीय । स्थावर दशकः—२३ स्थावर २४ सूक्ष्म २५ अपर्याप्त २६ साधारण २७ अस्थिर २८ अशुभ २९ दौर्भाग्य ३० दुस्वर ३१ अनादेय ३२ अयशकीर्ति ३३ नरकगति ३४ नरकानुपूर्वी ३५ नरकायु । ३६ अनन्तानुबन्धी क्रोध ३७ अ0 मान ३८ अ0 माया ३९ अ0 लोभ ४० अप्रत्याख्यानी क्रोध ४१ अप्र0 मान ४२ अप्र0 माया ४३ अप्र0 लोभ ४४ प्रत्याखानी क्रोध ४५ प्रत्या0 मान ४६ प्रत्या0 माया ४७ प्रत्या0 लोभ ४८ सज्वलन क्रोध ४९ स0 मान ५0 स0 माया ५१ स0 लोभ । ५२ हास्य ५३ रति ५४ अरति ५५ भय ५६ शोक ५७ जुगुप्सा ५८ स्त्रीवेद ५९ पुरुषवेद ६0 नपुसकवेद ६१ तिर्यग्गति ६२ तिर्यगानुपूर्वी । ६३ एकेन्द्रिय जाति ६४ द्वीन्द्रिय जाति ६५ त्रीन्द्रिय जाति ६६ चतुरिन्द्रिय जाति ६७ अशुभ विहायोगति ६८ उपघात नाम कर्म ६९ अशुभवर्ण ७0 अशुभगन्ध ७१ अशुभ रस ७२ अशुभ स्पर्श ७३ ऋषाभनाराच संघयण ७४ नाराच संघयण ७५ अर्द्धनाराच संघयण ७६ कीलिका सघयण ७७ सेवार्त्त संघयण ७८ न्यग्रोध परिमण्डल संस्थान ७९ सादि सस्थान ८0 वामन सस्थान ८१ कुब्ज संस्थान ८२ हुण्डक संस्थान । अतः पुण्य पाप दोनों ही कर्म रूप हैं । सुख व दुःख रूप भोगे जाते हैं । यही कहते हैं:—

कम्ममसुह दुहदं, सुहकम्मं भुंजइ सुहरूवं ।
तहवि कहं सुहरूवं, जं संसार पवड्ढेइ ॥३॥

व्याख्या —जीव के मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योगो को जो शुभाशुभ भाव रूप परिणति होती है, उन्हींके द्वारा स्वक्षेत्रगत कार्मणवर्गणा के ग्रहण से शुभाशुभ रागद्वेष कषाय स्थान की परिणति से-रसभेद परिणमन से पुण्य पाप प्रकृतियो का बन्ध होता है । यह सब आत्मा का स्वरूप नहीं है । हेतु परिणत जीव के द्वारा जो कर्म अशुभ ज्ञानावरणीयादि रूप से किये जाते है, व दु खदायक और शुभ-साता वेदनीयादि बाँधे जाते है, वे भोगते समय सुख रूप लगते है । यथार्थ से अवलोकन करने पर पुण्य कर्म कैसे सुख रूप माना जाय ? जो एकान्त रूप से असार है । भोगते हुए ससार की प्रकर्षरूप से वृद्धि करने वाला कहा गया है । वह पुण्य मेरा अर्थात् आत्मा का स्वरूप नही है ।

उसी को उदाहरण द्वारा इस प्रकार समझाते है —

किसी चाडालिनी के दो पुत्र हुए, जन्मते ही एक पुत्र को सदाचारी ब्राह्मण ले गया, दूसरा अपने ही घर रहा । विप्र के पास वह बालक स्नान दान अध्ययनादि कार्य करता हुआ उत्तम आचारवान् बन गया और जो चाडाल के घर रहा वह माँस मदिरादि का सेवन आदि चाडाल कार्य करने लगा । एक ही माता की कुक्षि से उत्पन्न होने पर और समानकुल सदृश पुद्गल निर्मित होने पर भी दोनों ही निमित्तभेद से और आचार भेद से विभिन्न अवस्थाओं-स्थितियों वाले बने । इसी प्रकार पुण्य पाप भी पुद्गल स्कन्धों से निष्पन्न, मोह के हेतु आत्मगुणों को आवृत करने के विपाक में तुल्य हैं । तथापि भोगते समय आस्वाद भेद से भिन्न अनुभव होने से, पुण्य और पाप रूप से प्रसिद्ध है, तथापि विपाक भेद होने पर सम्यग्दृष्टि जीवों के स्वगुणों को रोकने रूप अविपाक स्वरूप होने से तुल्यता का भास नहीं होता । अत "वेश भेद से कुल भेद" इस न्याय से पुण्य व पाप का क्षेत्रावगाहित्त्व होने पर भी वे आत्मा के नहीं, पर ही हैं, ऐसा तीर्थङ्कर देवों ने कहा है । शुभाशुभ परिणाम का निमित्तत्त्व होने से

कारण भेद है । शुभाशुभ पुद्गलों मे परिणत होने से स्वभाव-भेद है । और शुभाशुभ फल का पाक होने से अनुभूति भेद है । एक ही कर्म कुछ शुभ और कुछ अशुभ है ऐसा भी कितने ही लोगों का जो मत है, वह तो प्रतिपक्ष है । तथापि शुभ, अशुभ तो जीव का परिणाम है । केवल पुद्गल मय होने से एकत्व होने पर स्वभाव भेद से एक कर्म शुभ या अशुभ फल पाक वाला है वह जीव का परिणाम है । भेदतः ही केवल पुद्गलमय होने से एक देह मे एकत्व होने व अनुभव भी होने से दोनों— पुण्य पाप एक ही कर्म के दो रूप हैं ।

अब दोनों की विपाक भिन्नता दिखलाते हैः—

सोवण्णमयं पि निअडं रोहएइं कालसंपि गुण भावं ।

तह रोहइ जीअ सत्तिं सुहासुहं कम्म भुज्जंत ॥४॥

व्याख्याः—जैसे सोने की बेड़ी चलना आदि प्राणी की शक्ति को रोकती है वैसे लोहे की बेड़ी भी । रोकने रूप धर्म दोनों का समान ही है । वैसे ही कर्मोदय से प्राप्त पुण्य भी अव्याबाध आदि आत्म गुणों का रोधक है । कर्मोदय से प्राप्त पाप भी आत्मगुणो का अवरोध करता है । आत्मगुण अवरोधक रूप कार्य दोनों का तुल्य होने से दोनों ही पुण्य और पाप कर्म हैं । यद्यपि पुद्गल स्वतः जीव के गुणों को नहीं समझता पर जीव द्वारा गृहीत पुद्गल ही आत्मा के गुणों को आवृत करने वाले हो जाते हैं । स्वय जीव स्वगुणरोधक स्वभाव वाला नहीं है, परन्तु कुशील संसर्ग से ऐसा होता है । अतः कुशील का आचरण और राग का ससर्ग मत करो, आत्म गुणों का नाश कुशील व राग से ही होता है । इसी को स्पष्ट करते हैः—

रत्तो बंधई कम्मं मुच्चइ जीवो विराय संपन्नो ।

एसो जिणोवएसो तम्हा कम्मेसु मा रज्ज ॥५॥

व्याख्या —"जो रागी है वह अवश्य ही कर्म बाधता है और विरागी ही मुक्त होता है" ऐसा जिनेश्वर देवों का उपदेश है । अत पुद्गलादि मे राग रखना अज्ञान है । सर्व पर-भावों मे विरक्तता करनी चाहिये । अपने ज्ञान दर्शन चारित्रादि धर्मों को सम्यक प्रकार से ग्रहण करने वाला आत्मा ही सर्व दोषों से मुक्त होता है । अत तत्त्वज्ञ जन आत्मतत्त्व मे रत और सर्व पर-भावों से विरत ही रहते हैं ।

अव "सम्यग्ज्ञान मोक्ष का हेतु है" यह वताते हैं —

परमट्ठो खलु समओ सुद्धो जे केवली मुणी णाणी ।
तम्मि (म्हि) ट्टिया सहावे मुणिणो पावंति निव्वाण ॥६॥

व्याख्या —मुख्यरूप से आत्मा के दो गुण हैं —१ ज्ञान, २ दर्शन । जैसा कि भगवती सूत्र मे —"गुणओ उवओग गुणे" गुण से आत्मा के उपयोग—ज्ञान और दर्शन गुण हैं । ऐसा पाठ है ।

औपपातिक सूत्र मे भी—

"असरीरा जीवघणा उवउत्ता दसणे अ णाणे य ।
सागार मनागार लक्खणमेय तु सिद्धाण ॥११॥

वे सिद्ध अशरीरी है मात्र जीव स्वरूप होने से जिनके प्रदेश घनरूप हैं, ज्ञान और दर्शन मे जिनका सदा उपयोग लगा रहता है, वह उपयोग साकार व अनाकार भेद से दो प्रकार हैं पर दोनों साथ ही रहते हैं । यही सिद्धों का-शुद्ध आत्माओं का लक्षण है ॥११॥

ग्यारहवे गणधरवाद मे भी कहा है कि क्षायिक सम्यक्त्व, केवलज्ञान, केवलदर्शन और सिद्धत्व सिद्धावस्था मे होते हैं और कोई तो दानादि पचक और चारित्र सिद्धों के भी मानते हैं ।

और तत्त्वार्थकार से यथार्थ मे आशिक मतभेद है, कि वे सम्यक्त्व भी वहाँ सिद्धावस्था मे स्वीकार करते है । मुख्यरूप से तो दो गुण ही आत्मा

के माने गये हैं । उनके अभिप्राय मे आत्मा का वास्तविक स्वरूप ज्ञान ही है । उनकी क्रिया ज्ञान की ही प्रवृत्ति है । वह कारणावस्था मे होती है, अतएव कहते हैः—ज्ञान ही मोक्ष हेतु है । शुभाशुभ कर्म बन्ध की हेतु होने से अज्ञान अवस्था मे की गई क्रिया, मोक्ष की हेतु नही है । वही ज्ञानमय आत्मा, जो भावकर्म, द्रव्यकर्म, नोकर्म से भिन्न चिदानन्दमय, परमार्थमय, और वास्तविक परमार्थ है । इसे ग्रन्थकार ने यों कहा है कि समय अर्थात् स्वभाव ही निश्चय से परमार्थ है । उस स्वभाव मे स्थित मुनिजन ही निर्वाण प्राप्त करते हैं ।

इस वाक्य से आत्मा के अपने असख्य प्रदेशों मे व्याप्त व्यापक भाव से परिणत ज्ञान आनन्दादि स्वगुण ही स्वभाव रूप हैं । वह स्वसमय स्वभाव ही परमार्थ है । उस परमार्थ मे स्थिति अर्थात् स्वरूप स्वभाव मे जो रहना है, वही मोक्ष हेतु है स्वरूपालम्बन के बिना परमार्थ शून्यजन जो जप तप व्रतादि अनुष्ठान करते हैं, वो सब बालतप ही है, और निर्वाण का साधन नहीं है । कल्पभाष्य मे कहा हैः—

परमट्ठंमि नु अट्ठिआ, जे नाणं तवं च धारिंति ।
त सव्वं बालतवं बालवयं बिंति सव्वन्नू ॥१॥

अर्थः—परमार्थ मे नहीं रहे हुये जो ज्ञान-तप आदि धारण करते हैं उन सब को सर्व बालतप और बालव्रत कहते हैं और विष गरलादि रूप से किये गये सभी अनुष्ठान संसारवृद्धि के लिये हैं । अतः परमार्थ रहित जो करना है, वह सब संसार का हेतु है ।

आणाए तवो आणाए संयमो, तह य दाणमाणाए ।
आणा रहियो धम्मो, पलाल पूलव्व पडिहाई ॥७॥

अर्थः—आज्ञा से ही तप सयम और दान आदि धर्म, धर्म रूप है । तीर्थंकर की आज्ञा रहित धर्म कार्य, भूसे के पूले के समान त्यागने योग्य है ।

आचाराग मे "आणाए मुणी नो अणाणाए" कहा है । अर्थात् आज्ञा में प्रवृत्ति करने वाला मुनि है । अनाज्ञा मे रहने वाला नहीं । उसी आचाराग सूत्र के सम्यक्त्व नामक चतुर्थ अध्ययन के तृतीय उद्देश में कहा है —

"आणा कखी पडिए अणिहे, एगमप्पाण सपेहए" ।

अर्थ —आणाकखी—अर्थात् जो सर्वज्ञ देव द्वारा उपदिष्ट अनुष्ठान करने की आकाक्षा वाला है, वह पण्डित—ज्ञानी है और वह अणिह—स्नेह रहित अर्थात् राग रहित है, उपलक्षण से रागद्वेष रहित है । एक आत्मा का ही सम्यक् प्रकार से पर्यालोचन करता है ।

आत्म स्वरूप को प्रकट करने के रसिक ही निर्वाण के साधक है और जो पुद्गल सुख की अभिलाषा वाले जन है वे तपोनियमादि करते हुये भी निर्वाण के साधक नही है, ऐसा आचाराग सूत्र का आशय है । अत मोक्ष मार्ग कहते है ।

जीवादिसद्दहण सम्मत्त तेसिमधिगमा नाण ।
रागादि परिहरण चरण एसो उ मुक्खपहो ॥८॥

व्याख्या —वास्तव मे मोक्ष के हेतु सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र है । जीवादि पदार्थो का यथार्थ रूप से निर्द्धारण करना सम्यग्दर्शन है । जीवादि का यथार्थ बोध सम्यग्ज्ञान है और रागादि के विरह पूर्वक ज्ञानादि प्रवर्तन सम्यक्चारित्र है । अथवा शुद्ध उपयोग का स्वरूप मे स्थिर रहना सम्यक्चारित्र है । दोनों प्रकार की व्याख्या मे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र क्रमश निर्द्धारण, भासन और रमण परिणामरूप चेतना के ही परिणमन हैं । जीवादि तत्वों के सत्यरूप से निर्द्धारण रूप ज्ञान है और इस तरह नवतत्व का भासन भी ज्ञान ही है । तथा रागादि रहित जो चेतना है, वह चारित्र भी ज्ञान है । यों रत्न-त्रयीरूप ज्ञान ही परिणत होता है । इस प्रकार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इनको एक ज्ञानरूप होना ही सिद्ध होना निश्चित है, अत परमार्थ से ज्ञान ही मोक्ष का हेतु है ।

जैसे वस्त्र के श्वेत भाव को अन्य वर्ण का संसर्ग आच्छादित कर लेता है, वैसे ही पुण्य व पाप प्रकृतियाँ आत्म स्वरूप को आच्छादित कर लेती है । जीव का सम्यक्त्व गुण जो मोक्ष हेतु स्वभाव है, वह मिथ्यात्व नामक परभाव रूप कर्ममल से ढँका होने के कारण तिरोहित हो रहा है और जो यथार्थज्ञान मोक्ष हेतु है, वह भी परभाव रूप ज्ञानावरणीय नामक कर्ममल से आच्छन्न होने से लुप्त हो रहा है, तथा आत्मा का स्वरूपरमणमय मोक्ष का कारण चारित्रगुण है, वह भी चारित्रमोहरूप परभाव कर्ममल से अवच्छन्न (ढँका) होने से विलुप्त हो रहा है । अतः पुद्गल स्कन्ध रूप कर्म परिणमन पुण्य पाप दोनों रूप हैं । ये दोनों ही आत्मा के अव्याबाध सुखादि को रोकने वाले हैं । अतः अज्ञान ही कर्मबन्ध का मुख्य कारण है । उस अज्ञान को दूर करने के लिये सम्यग् ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिये । जैसा कि पूज्य हेमचन्द्राचार्य कहते हैः—

"आत्माज्ञानभव दुःखमात्मज्ञानेन हन्यते ।
अभ्यस्यंस्तन् तथा तेन येनात्मा, ज्ञानमयो भवेत् ॥"
"स्वल्पज्ञानेन नो तृप्ति, याति दृप्तात्मनां मनः ।
स्तोक वृष्ट्या यथा तप्ता भूमिरुष्मायते तराम् ॥"

अर्थः—अज्ञान से होने वाला दुःख आत्मा के ज्ञान से नष्ट किया जा सकता है । इसलिये उसी प्रकार का अभ्यास करना योग्य है जिससे आत्मज्ञान हो ।१। अभिमानी आत्माओं का मन थोड़े ज्ञान से तृप्त नहीं होता । जिस प्रकार तप्त भूमि पर थोड़ी वृष्टि होने से भूमि अधिक उष्म हो जाती है, वैसे ही थोड़े ज्ञान से आत्मा मे विषय सुख के लिये अभिलाषाएँ उत्पन्न होती है । अतः पुण्य प्रकृतियों की इच्छा से जो ज्ञान, तप, व्रतादि करता है, वह मोक्ष के लिये नहीं है, और इन्द्रिय सुख की इच्छा होने से सवर भी नहीं है । इसीलिये पुण्यपाप रूप कर्ममल के पूर्ण

अभाव से ही मोक्ष है, तीर्थंकर नाम-कर्म रूप प्रकृति का बन्ध भी तीव्र सक्लेश-भावराग-भावदयारूप परिणामों से होता है, फिर भी वह परिणाम मे शरीररागत्याग से सवररूप है और सम्यक्त्वीजीव के ही बँधता है किन्तु है तो पुण्य प्रकृति रूप ही । पुण्याभिलाषी कर्म बन्धक ही है । एव स्वात्म धर्म से जो अन्य है, 'वह मै नहीं हूँ, मै तो शुद्ध, बुद्ध, केवलज्ञान, दर्शनमय, अमूर्त्त, स्वात्मानन्द मे रमण करने वाला, स्वरूप मे विश्राम पाने वाला, और स्वरूप मे ही आसक्त हूँ, इस प्रकार की भावना सवर है और ऐसी भावना वाला वास्तविक सवरी है । अत स्व-स्वरूप से अन्य जो है, वह मेरा नहीं है । "इस प्रकार के निर्द्धारण, भासन और रमण मे परिणत ही सच्चा साधक है" यह स्थित-सिद्ध हुआ ।

सातावेदनीयादि ४२ प्रकृतियों का न मै कर्त्ता हूँ और न यह मेरा कार्य है । यह पुण्य तो अनादि काल से परभावमग्न और परभाव करणशील आत्मा के उत्पन्न होने वाले अशुद्ध परिणाम है, जो पुण्य वन्ध कराते है एव पाप भी । वास्तव मे तो कर्म समूह का अभाव ही करने योग्य है । तत्त्वार्थ सूत्र मे कहा है —

वन्धहेत्वाभावनिर्जराभ्याम् २।कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्ष ३ (अ १०)

अर्थात् बन्धहेतुओं के अभाव रूप सवर और निर्जरा के द्वारा सम्पूर्ण कर्मों का क्षय ही मोक्ष है ।

अशुद्ध अध्यवसायो और पुद्गल वर्गणाओं से निष्पन्न कर्मदलिकों का आवारकत्त्व और परभाव रूप विपाक ही भेद से पुण्य पाप रूप है । तथा आत्मा के जो रागद्वेष हेतु-भूत सुख दुःख की प्राप्ति अप्राप्ति के समय हर्ष विषाद के परिणाम हैं, यही भ्रान्ति है । अत पुण्य की आशसादि दोष रहित आत्मा का जिनाज्ञा में प्रवर्त्तन मोक्ष मार्ग है । कहा है कि -

एव सदैव परभाव विभाव मुक्त,
शुद्ध स्वभाव रमणाद्भुततत्वचेता ।

स्वधर्म भक्ति नितस्वात्मनि जृम्भते यः,

साध्यः स एव मुनिभिर्जित राग द्वेषै ॥

अर्थः—इस प्रकार जो शुद्ध स्वभाव मे रमण करने वाला तत्व ज्ञानी है, सदैव परभाव व विभाव मुक्त है । और स्वधर्म भोगी का विलास करते है वह अद्भुत तत्त्ववेत्ता है । रागद्वेष को जीतने वाले मुनियों द्वारा ही साध्य है ।

इस प्रकार 'पुण्य पाप परभाव रूप है', इसका सिद्धत्व किया गया ।

इति श्रीमद्देवचन्द्रगणि विरचितेऽध्यात्म प्रबोधेऽपरनाम
देशनासारे पुण्य पाप वर्णनोनाम तृतीयोऽधिकारः ।

॥ निराम्रवात्म-स्वरूप-वर्णन नाम चतुर्थ अधिकार ॥

अब आत्मा का शुद्धकर्त्तृत्व दिखलाते हुए कहते हैः—

आया ण कम्म कत्ताण, ण कम्मा आयभावं उप्पन्ना ।
पुग्गल सग निमित्ता तच्चाए कहं भवे कम्मा ॥१॥

व्याख्याः—वास्तव मे आत्मा न कर्मों का कर्त्ता है और न कर्म आत्मभावों से समुत्पन्न हैं; किन्तु पुद्गल सग निमित्त से उत्पन्न हैं । जब तक आत्मा अपने स्वरूप का भान नहीं करता, तब तक परभाव पुद्गल-स्कन्धाश्रित शुभाशुभ वर्णादि के भोक्तृत्व रूप से और इनसे इतर आत्म भाव को अभोक्तृत्वरूप से मानता है । और इष्टानिष्ट परिणति से शुभवर्णादि के प्रति राग रखता हुआ और अशुभ के प्रति द्वेष करता हुआ रहता है, तब तक उन रागद्वेष परिणामों के जो स्वक्षेत्र मे व्यापक रूप से हैं, उन्हींके द्वारा स्वक्षेत्रावगाढ कर्म-पुद्गलों का लोली भाव से सबंध होता है । वे बँधे हुये कर्मवर्गणास्कन्ध ही कर्म कहलाते है । अतः अशुद्ध अध्यवसायानुगत योग वीर्यादि परिणाम आश्रव हैं । जो मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, योग रूप व इन्द्रिय कषाय अव्रत योग क्रिया मदरूप

आश्रव है । इससे आत्मा का 'आश्रव' स्वस्वरूप नही है, निमित्त रूप है । जब निमित्त का त्याग हो जाता है, तो आत्मप्रदेशों मे कर्म का बन्ध कैसे हो सकता है ? इससे यह सिद्ध हुआ कि आश्रवासक्त के कर्मबन्ध होता है । आश्रवरहित जीव के कर्मबन्ध नही होता । अत ज्ञानावरणादि कर्म आत्मा के साथ समवायसम्बन्ध से सम्बद्ध नही है, और न रागादि भावाश्रव भी आत्मसमवेत अर्थात् समवाय सम्बन्ध से सम्बद्ध है । इससे आत्मा आश्रव वाला नही है और आश्रव आत्मा का धर्म नहीं, यह स्थित हुआ ।

यहाँ यह आशय है, कि रागद्वेष मोहादि का आश्रव जीव के अज्ञान रूप परिणाम निमित्त से है । आत्मा मे चेतनत्व होने पर भी चिदाभास रूप मिथ्यात्व अविरति कषाय और योग, जो पुद्गल के परिणाम है, वे ज्ञानावरणादि पुद्गल कर्मो के आश्रवण (आने) के निश्चय से निमित्त हैं, और कर्मो के आने का निमित्तत्व अज्ञान मय आत्मा के परिणाम-रागद्वेष मोहादि है, अत (कर्म) आने के निमित्त होने से रागद्वेष मोहादि ही आश्रव है वे अज्ञानी के होते हैं । यह अर्थ से ही सिद्ध है ।

अब ज्ञानी के कर्मबन्ध नहीं होता यह स्पष्ट करते है -

णत्थि हु आसव बन्धो, सम्मदिट्ठिस्स मिच्छ पच्चइओ ।
मिच्छत्ताभावे पुण, अन्नाणमओ न बधोत्ति ।।२।।

व्याख्या —क्योंकि सम्यग्-दृष्टि जीव के मिथ्यात्व प्रत्ययिक आश्रव व कर्मबन्ध नही होता । मिथ्यात्व के अभाव मे अज्ञान का भी अभाव ही है । अत सम्यग्दृष्टि जीव के अज्ञानप्रत्ययिक कर्मबन्ध भी नहीं है । क्योंकि ज्ञानमय भावों से ज्ञानी के अज्ञानमय भावों का निरोध हो जाता है । ज्ञान अज्ञान परस्पर विरोधी है, अत अज्ञानमय भावो के निरोध से आत्मा ज्ञानी होता है और ज्ञानी के आश्रव का निरोध हो जाता है । इस से ज्ञानी अज्ञान के निमित्त से आने वाले कर्मो को नहीं बाधता ।

जहाँ ज्ञान परिणति है, वहाँ परकर्तृत्व का अभाव ही कहा है; क्योकि ज्ञान संवर का भेद है ।

यहाँ शिष्य प्रश्न करता है :-

सम्मदिट्ठी नाणी उ बँधइ सत्त अट्ठ कम्माइ ।
तो नाणी नो बंधइ इय वयणं कहय संभवइ ।।३।।

व्याख्याः—आगम मे सम्यग्दृष्टि को ज्ञानी कहा गया है और वह सम्यग्दृष्टि, चतुर्थ गुणस्थान से सप्तम गुणस्थान तक सात आठ कर्मों का बन्ध करता है । यह भी आगम मे कहा है । तब ज्ञानी अबन्धक कैसे कहा जाय ? इसका उत्तर देते हैं :-

इग कोडि कोडि उवरिं ठिइ रस बंधो अ पगई इगु ।
आलं तेसि पएसो बंधो मिच्छत्त पच्चइओ ।।४।।
तस्स उ अबंधगो से संसारस्स य युग्गया न बुड्ढित्ति ।
एसिमबंधणेणं नाणी उ अबधगो भणिओ ।।५।।

व्याख्याः—एक कोडाकोडी से ऊपर उन प्रकृतियो का रस बन्ध न होने तथा सोलह मिथ्यात्व प्रत्ययी प्रकृतियाँ और पच्चीस तिर्यग् कोटि का प्रकृतियाँ हैं, यों इकतालीस उत्तर प्रकृतियो का सम्यक्त्वी ज्ञानी बन्ध नहीं करता । इस कारण से ज्ञानी को अबन्धक कहा है, यद्यपि शेष सतत्तर (७७) प्रकृतियों का बंधक होने पर भी अनन्त पुद्गल-परावर्त रूप ससार का छेद कर देने पर और अर्द्ध-पुद्गल परावर्त जितना ससार बाकी रहने पर भी जिसको सम्यक्त्व प्राप्त हो गया है, वह आत्मा वहुत बार अनेक प्रकृतियाँ बाँधता हुआ भी और किसी समय विराधनादि दोषों की अधिकता होने पर भी अर्द्ध पुद्गल-परावर्त्त से अधिक ससार भ्रमण नहीं करता; अतः अभिनव ससार वृद्धि का अवन्धक होने से अबन्धक कहलाता है; क्योंकि एक बार भी सम्यक्त्व प्राप्त कर लेने वाला जीव

अनन्त ससार के मूल को छेद देता है । इस कारण से अबन्धक कहा है।

पुन स्पष्ट रूप से विचार करते हैं —सूक्ष्मसम्पराय गुणस्थान के चरम समय में सर्वजघन्य कषाय है, ऐसी आम्नाय है–परम्परा की मान्यता है और मिथ्यात्वादि गुणस्थानों मे कषाय की उत्कृष्ट तथा ऊपर के गुणस्थानों मे तरतमता (कमोवेशी) रहती है । इसमे क्या प्रमाण है ? ऐसा प्रश्न होने पर उत्तर देते हैं कि सूक्ष्म सम्पराय गुणस्थान मे सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रयी की निर्मलता होने से चेतना वीर्यादि के अविभाग वाले, स्वरूप साधन का अनुगमन करने वाले जीव बहुत हैं और कषायानुगाढ जीव थोडे हैं । इसी से सूक्ष्म–सम्पराय जघन्य कषाय वाला जानना चाहिये ।

मिथ्या–दृष्टि जीवों के सर्व प्रकार का क्षयोपशम कषायोदय युक्त ही होता है और सम्यग्दृष्टि जीवों के जितना क्षयोपशम होता हैं, उसमे मन तत्वरुचि, तत्वभासन और अर्हदादि के अवलम्बन पूर्वक प्रशस्त कषाय युक्त अवश्य है, परन्तु जितना क्षयोपशमादि स्वभाव वाला स्वभाव के सम्मुख है, उतना कषायोदय मे नहीं, अत उसके बन्ध नहीं होता । और इसी कारण यथार्थ ज्ञानानुगत के वीर्यान्तरायादि का भी बन्ध नहीं होता । अत सम्यग्दृष्टि ज्ञानी के अज्ञान प्रत्ययिक बन्ध नही होता है । ज्ञान जितनी देर अविभागरूप से स्वगुण या गुणी आदि मे वर्त्तमान रहता है, तब तक कषायानुगत नहीं होता और वे सम्यग्दृष्टि ज्ञानी साधनोद्यत रहते हैं, अत अभिनव कर्म नहीं बाँधते है । उससे ज्ञानी के अज्ञान प्रत्ययिक और मिथ्यात्व प्रत्ययिक दोनों बन्ध नहीं है, क्योकि सर्वप्रदेशों मे सर्वथा अविभाग रूप से मिथ्यात्व का उदय नहीं है, अत मिथ्यात्व प्रत्ययिक बन्ध भी नहीं होता, यह जानना चाहिये ।

यहाँ शिष्य से प्रश्न करवाते है कि–सम्यग्दृष्टि जीवो के अप्रत्याख्यानादि कषायोदय के सद्भाव मे, क्षयोपशम सम्यक्त्वादि मे क्या उनका–अप्रत्याख्यानादि कषाय का उदय नहीं हैं ? यह बतलाइये ?

यहाँ कहते कि सर्व आत्म प्रदेशों में मिथ्यात्व के विपाक का अभाव होने पर क्षयोपशमसम्यक्त्व रहता है और प्रदेश से मिथ्यात्व-दलिको का उदय है; पर वह नीरस होने से सम्यक्-श्रद्धा का (सम्यक्त्व) रोधक नहीं है। और सम्यक्त्व-मोहनीय का उदय विपाक से है। मिथ्यात्व के ही जो पुद्गल सम्यक्त्व-मोहनीय के द्वारा लाये गये हैं, वे रस सहित हैं। शकादि अतिचारो के रूप मे उनका विपाक होता है। उपशम सम्यग्दृष्टि मिथ्यात्वादि सप्त-"मिथ्यात्वमोहनीय, मिश्रमोहनीय, सम्यक्त्वमोहनीय, अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ" प्रकृतियो के विपाक और प्रदेश से उदय के अभाव के कारण निरतिचार श्रद्धा वाला होता है। सम्यक्त्व से गिरने वाला कालादि क्षय से सत्तागत दर्शनमोहनीय की प्रकृतियों के उदय से गिरता है। क्षायिक सम्यक्त्व वाला तो उपर्युक्त सात प्रकृतियों का सर्वथा क्षय हो जाने से निरतिचार और अप्रतिपाति होता है। अतः उसके इन प्रकृतियो का कभी प्रादुर्भाव नहीं होता है। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, अन्तराय, इन तीन कर्मो का क्षयोपशम सर्व प्रदेशों मे है पर सर्वाविभाग पर्यायों मे नहीं है। सर्वाविभाग पर्यायों मे इन ज्ञानावरणीयादि घातिकर्मो का क्षय हो जाने पर ज्ञानादि गुणों का पूर्णतः प्रकाशन क्षायिक भाव मे ही होता है। चार अघातिकर्मो-'वेदनीय नाम गोत्र और आयुः' का क्षयोपशम भाव मे क्षायिक मे ही प्रकटता है। चरित्रमोहनीय विषयक स्वच्छता बनी ही रहती है। गुणों की अविभाग रूप से (पूर्ण रूप से) निरावरणता नहीं। और प्रत्याख्यानावरण के अनुदय मे कितने ही चारित्र गुणों का अविभाग (पूर्ण) आविर्भाव हो जाता है। सज्वलन के अनुदय में सयम की अविभाग वृद्धि के क्रम से संयम स्थानों के भेद होते हैं।

ज्ञानावरणीय के क्षयोपशम मे मत्यादि ज्ञान की अविभाग निर्मलता होने पर भी मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी कषाय के उदय मे चेतना पर पूर्ण आवरण नहीं होता; किन्तु विपर्यासादिभाव मे परिणमन होता है, उससे

अभिनव कर्मो का ग्रहण हो जाता है । सम्यग्दृष्टि की चेतना तो विपर्यास भाव मे नहीं परिणत होती, किन्तु कषायोदय होने पर कलुषता आजाती है और इससे गति आदि कर्मो का बन्ध होता है, तथापि अनन्तानुबन्धी कषाय के उदय के अभाव मे अर्द्धपुद्गल-परावर्त्तन काल से अधिक ससार की वृद्धि नहीं होती । सम्यक्त्व से पतित हुये जीव को अनन्तानुबधी का उदय होने पर भी विधे हुए मोती के जैसे कदाचिद् उस मोती का छिद्र बन्द हो जाने पर भी उसे खोलने में कठिनता नहीं होती, वैसे ही उस सम्यक्त्व पतित जीव के भी ससार वृद्धि नही होती और अर्द्ध पुद्गल-परावर्त्तन रूप काल मे ही हानि वृद्धि का सद्भाव रहता है । जैसे मरीचि के जीव ने सम्यग्-दर्शन-ज्ञान-चारित्र की प्राप्ति होने पर उक्त गुणों के अनुमोदन से ही अल्प ससारता करली थी । अर्थात् सात आठ भव प्रमाणतुल्य ससार भ्रमण धर्म न होने पर भी 'मेरे पास भी धर्म है' ऐसी प्ररूपणा करने से कोडा-कोडी सागर पर्यन्त ससार भ्रमण किया । ऐसा देखा जाता है और इससे भी अधिक ससार वृद्धि होने की सभावना है, किन्तु वह योग्यता प्रदेश रूप है । विपाक रूप से तो एक कोटाकोटी सागरोपम प्रमाण ही है । इस प्रकार सर्वत्र योजना कर लेनी चाहिये । इससे अभिनव ससार का अपुनर्वन्धक होने के कारण सम्यग्दृष्टि 'ज्ञानी' अवन्धक कहा जाता है । यह साराश है । ऐसा 'षष्टिशतक'' मे कहा है । सब जगह यही समझे ।

भावो रागादिजुओ जीवेण कओ उ वधगो भवई ।
रागाइ विप्पमुक्को अवधगों जाणगो नवर ।।६।।

व्याख्या —यहाँ यह निश्चित है, कि ज्ञान वीर्य क्षयोपशमरूप भाव जो राग द्वेष मोह सम्पर्कज हैं, वे लोह उपल सम्पर्कजवत् कालायस (लोह) सूची कर्म करने के लिये आत्मा को प्रेरित करते है अर्थात पापकर्म की प्रेरणा करते है । तथा रागद्वेषमोहादि के अभाव मे ज्ञानवीर्य

क्षयोपशम रूप विवेक से उत्पन्न भाव जो ज्ञान रूप भाव हैं, वे लोह और उपल के विवेक से उत्पन्न के समान हैं, वे कर्म न करने को स्वभाव से ही आत्मा को स्थापित करते हैं। इस कारण से रागादि सकीर्ण अज्ञानमय आत्मा ही कर्त्तृत्व मे प्रेरक होने से बन्ध करता है। रागादि से असंकीर्ण विप्रमुक्त आत्मा बन्धक नहीं है। अतः ज्ञानी को अबन्धक माना है। ज्ञानी सदा ज्ञायक भाव का कर्त्ता है। वह द्रव्याश्रवों से गाद्धर्य भाव को कैसे प्राप्त हो सकता है ? वह तो निराश्रव ज्ञायक भाव का भोक्ता है ! तव 'ज्ञानी सर्वथा अबन्धक है' ऐसा प्रश्न करने पर यथार्थता करने के लिये कहते है :-

नाणीवद्दट्ठ भावणाय तो णो उ बंधगों भवइ ।
जे हु कसाइया हेयवो तेसि संगेण बंधइ ॥७॥
कलुसीकय चेयणया संबंधंती वि दव्वकम्माईं ।
तेणं बंधो अबंधो भणिओ सम्मत्त ठाणाओ ॥८॥

व्याख्याः—सम्यग्ज्ञानी जीव जीवादि पदार्थ समूह को जैसा है, वैसा जानता हुआ बन्धक नहीं होता; क्योकि सम्यग्ज्ञान वाले के बन्धकत्व का अभाव है। जो कषायादि हेतु और उनके सग से कलुषी कृत चेतना युक्त जो है, वही द्रव्यकर्म बाँधता है। अतः ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म समूहो से ज्ञानी बन्धक और अवन्धक कहा गया है। और सम्यक्त्व स्थान से सयोगी स्थान के चरम समय पर्यन्त यह स्थिति रहती है। इससे यह सिद्ध हुआ कि अनादि से जीव के चेतनादि भाव जो मिथ्यात्वादि हेतु परिणत हैं, वे ही अभिनव कर्म के बन्धक हैं। जैसे-जैसे हेतुओं की निवृत्ति होती जाती है, वैसे-वैसे वन्ध की भी निवृत्ति होती है। जैसा कि कर्मग्रन्थ मे कहा है :—

चउ मिच्छ मिच्छ अविरइ, पच्चइया साय सोल पणतीसा ।
योग विणु पच्चइया-हारग जिण वज्ज सेसाओ ॥५३॥

(च. कर्मग्रन्थ)

व्याख्या —सातावेदनीय का बन्ध मिथ्यात्वादि चारों हेतुओं से होता है। नरकत्रिक आदि सोलह प्रकृतियों का बन्ध मिथ्यात्व मात्र से होता है। तिर्यञ्चत्रिक आदि ३५ प्रकृतियों का बन्ध मिथ्यात्व और अविरति इन दो हेतुओं से होता है। तीर्थंकर और आहारक-द्विक को छोड कर शेष सब (ज्ञानावरणादि पैसठ) प्रकृतियों का बध मिथ्यात्व अविरति और कषाय इन तीन हेतुओं से होता है। अत शुद्धनय से स्वरूप को ग्रहण करना चाहिये। जैसा कि कहा है—

सम्प्राप्य शुद्ध सुनय हतमूलदोषमेकाग्रामेव कलयन्ति स्वरूप रूपात्।
रागादि मुक्त मनसस्सतत भवन्त पश्यन्तु बन्धविधुर निजमात्मभावम्॥

(समयसार कलश १२०)

अर्थ —मूलदोषों-रागद्वेष मोहादि को नष्ट करके, और अपने रूप से एकाग्रता करके, इस प्रकार शुद्ध भाव को प्राप्त करके रागादि से मुक्त मन वाले आप सब सदा अपने आत्मभाव को देखिये। जीवा जीवादि नवतत्त्वों के यथार्थ स्वरूप का उपयोग (ज्ञान) शुद्ध नय है, और शुद्धनय उपयोग है। वही सवर है। शुद्ध नय को न जानना अज्ञान है और वही आश्रव है। इससे यह सिद्ध हुआ कि जितना शुद्ध नय ग्राही है, उतना मात्र सवर है। उत्तराध्ययन मे भी कहा है—

भूअत्थेणाहिगया जीवाजीवा य पुण्णपाव च।
सह समुइआ आसव सवरे अ रोएइ उ निसग्गो॥१७॥
जे जिणुद्दिट्ठे भावे चउव्विहे सद्दहइ सयमेव॥
अेमेव नन्नह त्ति अ निसग्गरुइ त्ति नायव्वो॥१८॥

—श्रीउत्तराध्ययन २८ वॉ अध्ययन

अर्थ —जिसने यथार्थ रूप से जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, सवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष, इन नवतत्त्वों को स्वबुद्धि से परोपदेश के

बिना अथवा जातिस्मरणादि ज्ञान द्वारा जान लिया है । स्वाभाविक ही इन तत्वों के प्रति रुचि है; वह निसर्ग रुचि कहलाता है जो जिनेश्वर देव द्वारा कहे गये द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव इन चारों की स्वयमेव श्रद्धा कर लेता है कि 'ये ऐसे ही हैं', अन्यथा नहीं, उसे निसर्गरुचि जानना चाहिये ।

वास्तव मे शुद्धनय आत्मा के शुद्ध स्वरूप और अनन्त ज्ञानानन्दादि गुणों का ग्राहक है । एक कार्य मे प्रवृत्त अनन्त पर्यायों के समुदाय को गुण कहते हैं । एक आत्मा एक समय मे भासन, रमण, भोक्तृत्व, सुख, अगुरुलघु, अव्याबाधादि अनन्त कार्यापन्न भावों को करता है । और वे गुणपर्याय नित्य अनित्यादि अनन्त स्वभाव रूप से परिणत होते हैं । अतः एक भी पर्याय अनन्त स्वभावमय है । शुद्धनय से यह आत्म स्वरूप है । उस स्वरूप का ग्रहण शुद्धनय करता है । श्रद्धान ज्ञान रमण अनुभव रूप से एकत्व करना सवर है । यह विचार करना चाहिये कि जो आत्मा परानुयायी चेतना से शुभाशुभ तथा परिणत और इष्टानिष्ट रूप से होते हुए परभावों का निर्द्धारण करता हुआ और उनमे रमता हुआ, नये कर्म दलिकों को जो स्वक्षेत्रावगाढ़ है, प्रकृति भेदरूप से परिणत करके शुद्धवीर्य से ग्रहण करता है । अर्थात् आश्रवण करता है, और उसी समय आत्म प्रदेशों के साथ क्षीरनीरवत् एक करता है । अर्थात् बाँधता है । उसी स्वअनुयायी चेतना से परमात्मा, परमभाव के ग्राहक, परमानन्दकन्द, केवलज्ञान, केवल दर्शन उपयोगों से युक्त श्रीमत् अर्हदादि पच परमेष्ठियों के स्मरण, चिन्तन, उनके गुण और ज्ञान का श्रवण, तथा अनुभव मे लगा देने पर, शुद्ध आत्मधर्म के श्रवण, चिन्तन व अनुभव मे परिणत हुआ अभिनव कर्मों को ग्रहण करने के लिये प्रवृत्त नहीं होता, वही सवर है । अतः शुद्धनय का ग्रहण संवर है । और शुद्धनय को न जानना अज्ञान है । अज्ञान आश्रव है । जितनी शुद्ध स्वरूप-ग्राही चेतना है, उतनी ही अनाश्रवी है । जैसा कि श्री **भगवती सूत्र** में कहा गया है:—

"तहारूवे समणोवासए तहारूवाण समणाण निग्गथाण फासुएण असणपाण खाइम साइमेण पडिलाभेमाणे कि कज्जति ?

गोयमा ! एगत सो निज्जरा कज्जति, नत्थि से पावकम्मे" इति

यहाँ सत्साधु को दान देने का फल एकान्तरूप से निर्जरा दिखलाया है । यद्यपि श्रमणोपासक के ज्ञानावरणीयादि पाप का बन्ध है और वह कषाय, असयम रूप अन्य परिणति से होता है । न कि यथाविधि दान परिणति से ? इस प्रकार यथार्थज्ञान की परिणति से अवधकत्व है । और शेष आश्रव परिणति से वन्धकत्व है, वन्धकत्व होने पर भी यहाँ तो सम्यग्दर्शनादि रूप से चेतना की परिणति का स्वरूप कहने के प्रसग पर उसका स्वरूप कहना ही युक्त है और वह स्वरूप अवन्धक है । अत सम्यग्ज्ञान अनाश्रव है ।

इत्थ शुद्धात्मबोधात् स्वसमयरसिक स्वात्मरामी स्वशीली,
स्याद्वादी तत्वभोगी पर पदविलसत् स्वात्मतालीनशाली ।
स्वीयानन्दाब्धिरामी निजगुण करणा दस्तिता कार्यकारी,
सोऽय बन्ध नवीन न किमपि कुरुते सवरी शुद्धचेता ॥१॥

अर्थ—इस प्रकार शुद्धबोध से स्वभाव रसिक, स्वात्मा मे रमने वाला, निज आचरणशील स्यादवादी, तत्वभोगी, परपद-पुद्गलादिभाव के विलय से आत्मा मे ही विलास करने वाला, अपने ही आनन्द-समुद्र मे रमण करने वाला, निजगुणो के करने से अस्तिता का कार्य करने वाला, वह सवरी और शुद्ध चेतना वाला आत्मा कुछ भी नवीन बन्ध नहीं करता है ।

इस प्रकार निराश्रव आतमस्वरूप का कहने वाला महत्वपूर्ण अधिकार समाप्त हुआ ।

इति श्रीमदेवचन्द्र गणि सन्दृब्धे अध्यात्मप्रबोधेऽपरनाम देशनासारे निराश्रवात्मस्वरूपवर्णकश्चतुर्थोऽधिकार ।

॥ संवर-स्वरूप वर्णन नाम पंचम अधिकार ॥

अब पचम संवर अधिकार आरम्भ करते हैः—

आसंसारविपक्षसंवर पदध्वंसैक बद्धाशयं,
दुस्त्याज्यं भवकोट्यसंवरकरं स्फूर्जद् विभावाश्रयम् ।
प्राचीनं पररूपतो नियमितं सज्ज्ञानज्योतिःस्वकं,
स्याद्वादं स्वपरावबोधविमलं तत्वं समुज्जृम्मते॥

अर्थः—ससार पर्यन्त विपक्ष रूप से सवरपद का ध्वंस करना ही मात्र जिसका ध्येय है, करोड़ों भवों तक विभाव का आश्रय लेकर रहता है और अविरति रूप से ही जिसकी किरणे चमकती रहती हैं, ऐसा आश्रव है । उसको ऐसे प्राचीन पररूप से नियमित किया गया आत्मा जो सज्ज्ञान ज्योति है, उसे प्रकट करने को स्वपर का ज्ञान कराने वाला स्याद्वादरूप तत्वबोध सम्यग् प्रकार से क्रियाशील तत्पर है ।

अब सर्वप्रथम सकल कर्मो के सवरण का श्रेष्ठ उपाय भेद विज्ञान है, उसका अभिनन्दन करते हैः—

उवओगे उवओगो कोहाइ सु णत्थि कोवि उवओगो ।
आया आयसहावो, णो परभावी कया हवई ॥१॥
अण्णे , जीवा सव्वे, अचेयणा णंतसो य पर दव्वा ।
णा हं ते णो ते मे, इयं सणाण भेद विन्नाणं ॥२॥

व्याख्याः—जीव और पुद्गल एक दूसरे के नहीं हैं । दोनों भिन्न-भिन्न प्रदेश वाले हैं । अतः एस सत्ता सिद्ध नहीं होती । सत्ता एक न होने से आधार-आधेय सम्बन्ध भी नहीं है; क्योंकि आधार आधेय सम्बन्ध स्वरूप मे प्रतिष्ठित रहता है । ज्ञान ज्ञाता मे रहता है । ज्ञाता ज्ञान से पृथक नही है । ज्ञान की जानने की शक्ति भी ज्ञान से पृथक् नहीं है । क्रोधादि भी क्रुद्धत्वादि अवस्थाओं मे रहते है और उनसे भिन्न नहीं है,

क्योकि क्रुद्धत्वादि अवस्थाओं में ही क्रोधादि मिलते है । इसी प्रकार विषय-कषायादि कर्म अथवा नोकर्म मे, ज्ञान नही है, विषयकषायादि मे भी ज्ञान नही है । क्योंकि इनके स्वरूप मे विपरीतता होने से पारमार्थिक रूप से आधार आधेय सम्बन्ध भी नहीं हैं । जैसे ज्ञान का स्वरूप ज्ञातृत्व है, क्रोधादि का स्वरूप क्रुद्धत्वादि है । इसी प्रकार आत्मा व पुद्गलादि पर भावों का स्वभाव से ही भेद है, और स्वभाव भेद ही वस्तु भेद है । ज्ञान और जड का आधार आधेय भाव भी नही है । कि च एक आकाश प्रदेश की एक आकाश प्रदेश मे ही रहने की विभावना (विचार) करते हुये, पर आधार आधेयत्व का भाव नहीं होता । एव एक ज्ञान को ही स्वबुद्धि मे अधिरोपण करके आधार आधेय भाव का विचार किया जाता है, तव अशेष द्रव्यों-विषय कषायादि का अधिरोप होने से ही बुद्धि से भिन्न अधिकरण की अपेक्षा उत्पन्न नहीं होती । तव एक ज्ञान मे प्रतिष्ठित विचारते हुये पर का आधार आधेयत्त्व प्रतिभात नही होता । अत आत्मा का शुद्ध स्वरूप ज्ञान ही है । क्रोधादि तो अशुद्ध ही है । इस प्रकार भेद विज्ञान सिद्ध होता है । और तब भेद विज्ञान से शुद्ध आत्मा उपलब्ध होता है । शुद्ध आत्मा की उपलब्धि से रागद्वेष मोह के अभाव रूप सवर प्रकट होता है । यहाँ कोई शका करे कि भेद विज्ञान से ही आत्मा की उपलब्धि कैसे हो जाती है ? उसका समाधान करते हैं —

जह कणयमग्गि तविय कणयभाव ण परिच्चयइ ।
तह कम्मोदय तवियो जीवो ण जहइ णाणित्त ॥३॥
एव जाणइ नाणी अन्नाणी रागदोसमेवाय ।
अन्नाण तमोत्थम्हो आयसहाव अयाणतो ॥४॥

व्याख्या —जैसे कनक अग्नि से तपाया जाने पर भी कनक भाव को नहीं छोडता, वैसे ही कर्मोदय से तप्त ज्ञानी जीव भी ज्ञानत्व का परित्याग नहीं करता । इस प्रकार ज्ञानी जानता है और अज्ञानी तो अपने आपको रागद्वेषमय जो अज्ञान से उत्पन्न भाव है, उनके कारण आत्मस्वभाव को न

जानता हुआ स्वपर का भेद करने मे अशक्त है । अतः अज्ञानी बन्धक और ज्ञानी अबन्धक जानना चाहिये ।

जिसको यथार्थ भेदज्ञान है, वह भेदज्ञान होने से ज्ञानी होता हुआ जानता है कि जैसे प्रचण्ड अग्नि से प्रतप्त सुवर्ण सुवर्णत्व का परित्याग नहीं करता, वैसे ही प्रचण्ड कर्म विपाक से मूर्च्छित होने पर भी मूर्च्छित आत्मा स्वरूपत्व को नहीं छोड़ता । क्योंकि हजारों कारणों से भी स्वभाव का परित्याग करना अशक्य है । स्वभाव का त्याग हो जाने से वस्तु मात्र का ही उच्छेद हो जाता है । न तो स्वभाव का त्याग हो सकता है और न किसी वस्तु का नाश हो सकता है, वस्तु सत् है, अतः नाश असभव है । एव आत्मा भी ज्ञानमय होने पर अपने स्वरूप को जानना हुआ कर्मो से आक्रान्त होने से न राग करता है, न द्वेष, न मोह किन्तु शुद्ध आत्मा उपलब्ध होता है । और जिस आत्मा को यथोक्त भेदज्ञान नहीं है, वह भेदज्ञान के अभाव मे अज्ञानी होता हुआ अज्ञानान्धकार से आच्छन्न होने से 'चैतन्य चमत्कार मात्र है, इस आत्म स्वभाव को नहीं जानता हुआ आत्मा को रागमय मानता हुआ, रागद्वेष मोह करता है, उसे कभी शुद्धात्मा का ज्ञान नहीं होता । अतः भेद विज्ञान से ही शुद्धात्मा का ज्ञान होता है । वास्तव मे जो सदैव अविच्छिन्न धारायुक्त ज्ञान से शुद्धात्मा को जानता हुआ अवस्थित रहता है, वह सज्ज्ञानमय भाव से सवरमय भाव वाला ही होता है । कर्म आने के निमित्त रागद्वेष व मोह की सन्तान (परम्परा) के निरोध से शुद्ध आत्मा को जानता है अथच प्राप्त कर लेता है । और जो सदा अज्ञान से अशुद्ध आत्मा स्वरूपमय है, और उसी मे अवस्थित है, वह अज्ञान मय भाव से अज्ञानमय भाव वाला है । और इस कारण से कर्म आने के निमित्त रागद्वेष व मोह की परम्परा की वृद्धि को निरोध न करने से अशुद्धरूप को पाता है । अतः शुद्धआत्मा की उपलब्धि (ज्ञान) से ही सवर है ।

कहते है कि —

"ये यावन्तो ध्वस्तवन्धा भवन्ति, भेदज्ञानाभ्यासएवात्र बीजम् ।
ये यावन्तोऽध्वस्तवन्धा भ्रमन्ति, भेदज्ञानाभावाऽत्र बीजम् ॥२॥

अर्थ —जितने आत्मा ध्वस्तवन्ध (मुक्त) होते है, उसमे भेदज्ञान का अभ्यास ही मूल कारण है, और वे जितने आत्मा जो वन्ध का नाश नही कर सके है, और ससार मे भ्रमण करते हैं, उनके भ्रमण का मूलकारण भेदज्ञान का अभाव ही है ।

यहाँ पर विचार करना चाहिये, कि धर्मास्ति, अधर्मास्ति, आकाशास्ति, पुद्गलास्ति और जीवास्ति, ये पाँच अस्तिकाय है । इनमें जीव ही पुद्गल सग निमित्त से कर्मो का कर्त्ता है । अन्य सभी अजीव हैं । जीव के अपने गुण वन्धक नही होते, गुणो की प्रवृत्ति के अभाव मे बन्ध होता है, और जो क्षयोपशम से प्रकटी-भूत मतिज्ञान श्रुतज्ञानादि और वीर्यादि गुण है वे शुभ या अशुभ परभाव मे प्रवृत्त होते हैं, तब वे शुभभाव मे प्रवृत्त होते हुये शुभ कर्म का और अशुभ भाव मे प्रवृत्त होते हुये अशुभ कर्म का वन्ध करते है । शुद्ध ज्ञानादि मे प्रवृत्त हुये कर्मबन्ध नहीं करते । प्रकट हुये ज्ञानादि गुण जब स्व-स्वकार्य मे प्रवृत्त रहते हैं, तब अबन्धकता रहती है । आत्मा के गुण जो स्वात्म स्वरूप के भासन, रमण और अनुभव में अप्रवृत्त हैं, और न पहले कभी वे गुण प्रकट हुये हैं । वे ही पुद्गल के वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्शादि गुणों मे इष्ट अनिष्ट रूप से परिणत हुये कर्मो के बन्धक होते है । मात्र ज्ञान जो ज्ञायकभावपरिणत है, वह बन्ध के लिये नहीं प्रवृत्त करता, किन्तु जो विपर्यास से इष्टानिष्टतया परिणत होता है, वह बन्धन कारक है । मिथ्यात्व अविरति, कषायादि हेतु परिणत चेतना व वीर्यादिगुण अभिनवकर्मो के ग्राहक होते हैं । जो विपर्यास रूप ज्ञानादि परभाव मे रमण करते हुये परभावों को . . हैं, परलाभादि में सन्तुष्ट रहते हैं, परभोगी हैं, परभाव मे आसक्त

और मत्त हैं, वे बन्ध करते हैं । इस प्रकार 'कौन बन्धक है'? इसका निर्णय हुआ । अब "परसग से मुक्त बन्धक नहीं है" इसी को दृढ़ करते हैः—

जो सव्व संग रहियो, सद्दहइ जाणइ रमइ नियभावे ।
सो णो बंधइ कम्मं, चेआ चिंतंते णिय भावाइ ॥५॥
अरिहंताइसु उवउत्तो, णियसत्ताइसु जो उवउत्तो ।
तदणुगय खओवसमो, ण बंधइ बंधइ परट्ठो य ॥६॥

व्याख्याः—जो आत्मा सर्व परभाव सग से मुक्त है, और अपने स्वभाव मे श्रद्धा करता है । स्वभाव को जानता है, स्वभाव मे रमण करता है और अपने भाव को भोगता है, वह कर्म समूह को नहीं बाँधता है । जो आत्मा चेतन स्वरूप का चिन्तन करता है तथा अर्हत्, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधुओ के गुणो में उपयुक्त है अर्थात् चिन्तन मे लीन है, तथा यथार्थ जीवादि तत्वों के स्वरूप ज्ञान मे प्रवर्तमान चेतना वाला अथवा स्वसत्तादि भाव के अवभासन (ज्ञान) मे उपयुक्त है और तदनुगत क्षयोपशमवाला है, उसको चेतनादि अनुगत वीर्यादि हैं, अतः वह कर्म नहीं बॉधता । अतः परभावो के ग्रहण, भोग, रमण आदि अज्ञान मे प्रवृत्त चेतना बध कारक है, यह सिद्ध हो गया । मात्र वही आत्मा जो राग द्वेष मोह मूल, शुभाशुभ योगों मे वर्तमान चेतना को, दृढतर भेद विज्ञान के अवष्टम्भ (अवलम्बन) से, आत्मा को आत्मा के द्वारा आत्यन्तिक रूप से रोक कर शुद्ध दर्शन ज्ञानमय आत्म द्रव्य मे अच्छी तरह प्रतिष्ठित करके, समस्त पर द्रव्य की इच्छा के परिहार द्वारा समग्र पर–सग से विमुक्त होकर सदैव निष्प्रकम्प (अचल) है, वह किञ्चिद् भी कर्म–ज्ञानावरणादि, नोकर्म–शरीरादि के रस स्पर्श से वद्ध नहीं होता । अपने आत्मा को ही आत्मा के द्वारा विचार करता हुआ, स्वय सहज स्वभाव का चिन्तक होने से, आत्मा के एकत्व का ही चिन्तन करता है । वह निश्चय से एकत्व के चिन्तन द्वारा परभावों से एकदम पृथक् चैतन्य

चमत्कार वाले आत्मा का ध्यान करता हुआ, शुद्ध ज्ञान-दर्शनमय आत्मा को प्राप्त हो जाता है, और शुद्ध आत्मा के उपलब्ध होने पर, समस्त परद्रव्यमयत्व को जो अतिक्रान्त करता हुआ, शीघ्र ही आत्मा को सकल कर्मो से विमुक्त कर लेता है, यही सवर का रूप है । इसी कारण से उत्तमजन राज्य का त्याग करते हैं, गृहवास से निकलते हैं । विविध प्रकार के तप अगीकार करते हैं, गुणियों के चरणारविन्द की सेवा करते हैं । एषणीय आहार के लिये भ्रमण करते है । देशों में विहार करते हुये वर्षा, शीत, ग्रीष्म आदि कष्ट सहते हैं । विनय, वैयावृत्य मे रत रहते हुये, आत्मा की शुद्धता करने के लिये विचरते हैं । "परप्रसग योग से परभावों मे व्यापकता न हो जाय" इसकी सावधानी रखते हैं, क्योंकि परव्यापकता से ही अनन्त काल से महा नरक, निगोदादि स्थानों मे भटकता रहा है । और अपने परमानन्द, ज्ञानस्थिरता, सुख का अनुभव नहीं किया है । अव मैने मुक्ति के साधन व कारण प्राप्त कर लिये हैं, अत अकृत्यसगी न होऊँ, और जिस प्रयोग से स्वरूप की सम्यक् सिद्धि हो, वही मेरे लिये करणीय है । ऐसा निश्चय करके स्वतत्र-आत्मतत्व मे रमता है ।

जीव के, जब तक 'आत्मा और कर्म की एकता है' इस धारणा के मूल-मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति, कषाय और योग रूप अध्यवसाय हैं, वे ही रागद्वेष मोह लक्षण आश्रव भाव के हेतु हैं । आश्रव भाव, कर्म का हेतु है, कर्म नोकर्म (शरीर) हेतु, नोकर्म राग-ससार का हेतु है । इस कारण से आत्मा, आत्मा व कर्म के एकत्व अभ्यास से मिथ्यात्व रूप, अविरति रूप व अज्ञानमय ही आत्मा को जानता है । इसी से राग-द्वेष मोह रूप आश्रवभाव की भावना करता है । इससे कर्म का आश्रव होता है और नोकर्म-शरीरादि होते हैं । शरीरादि राग से ससार-भ्रमण का सामर्थ्य बढता है । और जब आत्मा व कर्म के भेद विज्ञान से शुद्ध चैतन्य चमत्कार रूप आत्मा को जान लेता है, तब मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति लक्षण अध्यवसायों का जो भावआश्रव के हेतु हैं, उनका अभाव

हो जाता है । हेतुओं के अभाव मे रागद्वेष मोहरूप आश्रवभाव का भी अभाव होता है । कर्म नोकर्म का अभाव होने पर ससार का अभाव होता है । इस प्रकार सवर का क्रम है ।

सम्पद्यते संवर एव साक्षात् शुद्धात्म तत्वस्य किलोपलम्भात् ।
स भेदविज्ञानमयो हि साक्षात् तद्भेदविज्ञानमतीव भाव्यम् ॥३॥

अर्थः—शुद्ध आत्मतत्व की प्राप्ति से निश्चय ही सवर की उपलब्धि होती है और सवर भेद-विज्ञानमय है; अतः भेद-विज्ञान की अत्यन्त भावना करनी चाहिये ।

भेदविज्ञानतो युक्ता, मुक्तानन्ता जिनोत्तमाः ।
तस्यैवाभावतो बद्धा; बद्धा यैः किल केचन ॥४॥

अर्थः—भेद-विज्ञान से युक्त अनन्त जीव जिनोत्तम और मुक्त हुये हैं और भेद-विज्ञान के अभाव से बद्ध होते हैं । अतः जो बद्ध हैं, वे निश्चय ही भेद-विज्ञान के अभाव के कारण ही बद्ध हैं ।

अतः सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान बल से, स्वपर का भेद-ज्ञान करके, सम्यक्चारित्र के बल से, स्वरूप का एकत्व और परभाव का त्याग करना चाहिये । परभाव का त्याग होने पर नये कर्म नहीं आते हैं । नये कर्मो के अभाव मे स्वरूपानुग तप करने से पूर्व बद्ध कर्मो की सकाम निर्जरा होती है । अनभिसन्धिचक्र-मिथ्यात्वादि हेतु समूहों के अभाव मे होने वाला कर्मबन्ध तो थोड़ा होता है और सम्यग्दर्शन वाले के निर्जरा तो अधिक होती ही है । आवश्यक निर्युक्ति मे कहा हैः—

पल्ले महे महल्ले कुंभं पखिवइ न सोहइ नालिं ।
इय मिच्छत्ती जीवो बंधइ बहुयं खवइ अप्पं ॥१॥
पल्ले महे महल्ले कुंभं पखिवइ सोहेइ नालिं ।
इय सम्मती जीवो बंधइ अप्पं खवइ बहुयं ॥2॥

अर्थ —कोई व्यक्ति बडी भारी कोठी मे घडे भर-भर कर अनाजादि डालता जाय और कभी उसकी नाली न खोले, न साफ करे तो वह कोठी कभी खाली नहीं होती । वैसे ही मिथ्यात्वी जीव बाँधता तो बहुत ज्यादा है, और भोगकर क्षय थोडे कर्म, करता है । इसी प्रकार इससे विपरीत सम्यक्त्वीजीव है, जो ऐसे व्यक्ति के जैसा है, जो बडी भारी कोठी मे डालता कम है और नाली को साफ करता रहता है और कोठी को खाली करता रहता है । सम्यक्त्वी जीव हेतुओं के अभाव मे बन्ध कम करता है और क्षय अधिक करता है ।

अत सम्यग्दृष्टि के निर्जरा अधिक होने से ससार मे भ्रमण कराने वाले कर्मों का क्षय होता रहता है । सर्व कर्मो का क्षय होने से आत्म स्वरूप का लाभ अर्थात् मुक्ति होती है । ऐसा जानना चाहिये ।

अब तत्त्वार्थ वृत्ति के अनुसार सवर के भेदो का वर्णन करते है —

आत्मा के कर्मोपादान हेतु-भूत परिणामों का अभाव सवर है । अत जो कुछ भी कर्म आगमन के निमित्त का अभाव है वह सवर है । वह देश, सर्व भेद से दो प्रकार का है । बादर सूक्ष्म योगों के निरोध के समय सर्व सवर होता है । चारित्र स्वीकार से लेकर शेष काल मे आत्मा देश-सवर परिणति वाला रहता है । यहाँ कहते है कि यदि सकल आश्रव द्वारों को रोकने रूप सवर है, तब कर्म आने के समस्त निमित्त रूप आश्रव छिद्रों को बन्द करने की इच्छा तो कुछ ऐसे पुरुषों को जो सम्पूर्ण परिस्पन्द-योगचन्चलता का निराकरण करने के इच्छुक है, उन्हें ही होती है, अत समचतुस्र सस्थान व वज्रर्षभनाराच सहननादि वाले महान् पराक्रमशाली आत्मा जो कर्म निर्जरा के अभिलाषी और परिपूर्ण शक्तिमान् है, वे परिस्पन्द स्वभाव योगों का निग्रह करने का उपक्रम करते है और उनके कर्म निवृत्ति होती है । तो फिर इस युग के पुरुषों के तो यथोक्त सवर का अभाव ही रहा । इसका समाधान करते है —वह सवर दो प्रकार का है — १ देशत २ सर्वत — सर्व सवर का अभी अभाव

है; देश का नहीं । वर्तमानकालीन सामायिकादि चारित्रधारियो तत्वज्ञ पुरुषों को जो ससार समुद्र से पार होने के इच्छुक हैं, उनके योग परिस्पन्द (चञ्चलता) होने पर और प्रधान सवर के अभाव मे भी, जो समस्त प्रमाद स्थानों से दूर रहते हैं, उनके देश—सवर है ? या सर्व सवर है? इसका प्रतिपादन करने के लिये कहते हैः—

वह सवर उनके गुप्ति, समिति, धर्मानुप्रेक्षा, परिषहजय और चारित्रो से होता है । यह आश्रव निरोध लक्षण कहा गया है । वह किस उपाय से करना चाहिये ? उस उपाय को दिखलाने के लिये यह सूत्र हैः—"स गुप्ति समिति धर्मानुप्रेक्षा परिषहजय चारित्रैः' 'सः' इस सर्वनाम से प्रक्रान्त सवर का विचार करते हैः—गुप्ति का अर्थ सरक्षण है, वह संवर करने वाले के लिये करणीय है । गुप्ति करने का उपाय समिति है, जिसका अर्थ है—सम्यग्गति अर्थात् सकलक्रियोपलक्षण सर्वज्ञप्रणीत ज्ञानानुसारिणी चेष्टाएँ समितियाँ है । उनसे संवर होता है । नरकादि कुगतियो मे गिरते हुये आत्मा को पकड़ले, गिरने न दे वह धर्म है । जो क्षान्त्यादि दशलक्षण रूप है, अनुचिन्तन अनुप्रेक्षा है, अथवा अनुप्रेक्षा भावना को कहते है । उस प्रकार का अनुचिन्तन या भावनाएँ जिनसे सवर सुलभ हो, अनुप्रेक्षा कहलाती हैं । वे १२ हैं । सँर्व ओर से होने वाले क्षुधा पिपासादि कष्टों को जो सहन किया जाता है; वे परिषह कहलाते है । परिषहों को जीतना, उनसे अभिभूत न होना परिषहजय है । ये २२ होते हैं । चारित्र कहते हैं—अष्टकर्मो के चय-अर्थात् आत्मप्रदेशो से बद्ध कर्म समूह के सचय-संग्रह को खाली करना । वह सामायिकादि पाँच प्रकार का है । जो इन गुप्त्यादि उपर्युक्त उपायों से होता है । प्रस्तुत संवर का सम्बन्ध बतलाने को तद् शब्द का प्रयोग है । यह संवर आश्रवनिरोध लक्षण है, यह मन मे व्यवस्थापित कर लिया कि इन गुप्ति आदि करने रूप उपायों से संवर होता है । अर्थात् संवर का यह स्वरूप है ।

अव ये गुप्ति आदि करण कैसे होते है इसे स्पष्ट करते है । रागद्वेष की परिणति रूप आर्तरौद्र ध्यान से मन को हटाकर व ऐहिक तथा पारलौकिक विषयों की अभिलाषा का निराकरण करने से मनोगुप्ति होती है और उससे नरकादि के हेतु कर्मो का बन्ध नही होगा ।

वचन गुप्ति का स्वरूप यों है —जो दुर्वचन नहीं सहन करने, असत्य प्रलाप करने, प्रियवचन बोलने आदि हेतुओं से कर्म बँधते है, वे वाग्-व्यापार से विरत-मौनी-वचन गुप्ति वाले या यथोक्त (शास्त्रोक्त) हितमित पथ्य भाषण रूपी वचन से भी, मुक्त होने से नही बँधते है। वैसे ही कायगुप्ति वाले के भी कायगुप्ति रहित के दौडना, लटकानादि शारीरिक क्रिया करना, अप्रतिलेखित अप्रमार्जित भूमि मे प्रवेश, चक्रमण (घूमना) द्रव्य पदार्थो-वस्तुओं को लेना, देना, रखना आदि निमित्तो से कर्म का आत्मा मे बध होता है, वह कार्योत्सर्गस्थित के अथवा जिसने हिसादि दोषो का परित्याग कर दिया, उस प्रकार की क्रिया नही करता और शास्त्र-विहित क्रियानुष्ठान करने वाला है, वह कायगुप्ति वाला होने से उसके पूर्वोक्त निमित्तों से होने वाला बन्ध नही होता । इस प्रकार सम्यग्रूप से मनोवाक् काय रूप तीन योगो के निग्रह रूप तीन गुप्तियाँ सवर करने वाली होती है ।

समितियाँ भी प्राय मनोवाक्काय की सम्यग् चेष्टा लक्षण गुप्ति रूप ही है । मनोवाक्काय व्यापार को चेष्टा कहते है । समितियाँ पाँच है —१ ईर्या समिति २ भाषा समिति ३ एषणा समिति ४ आदान निक्षेपण समिति ५ उच्चार प्रस्रवण खेलजल्ल सिघाण पारिष्ठापनिका समिति, इनमे ईर्या, आदान, और वाग व्यापार निक्षेप और उच्चारादि पारिष्ठापन-(त्याग) तीन समितियाँ काय व्यापार के अन्तर्गत है । मनोव्यापारानुयायिनी एषणा समिति लक्षणा भाषा समिति है । इनका जो पृथक् रूप से ग्रहण है, वह अल्पबुद्धि जीवों को सुखपूर्वक ज्ञान होने के लिए है । अनन्तानुबन्ध्यादि भेद वाले क्रोध, मान, माया, लोभ का क्षमा, मार्दव, आर्जव, मुक्ति से

निग्रह होने पर सवर की प्राप्ति होती है । कहीं लोभ के निग्रह से मुक्ति कहलाती है । सत्य, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य–ये चारित्रानुयायी हैं । सयम सत्रह प्रकार का भी होता है । जिसके भेदों मे से कुछ का समावेश तो प्रथम अहिंसा व्रत मे हो जाता है, शेष उत्तरगुणान्तरभूत है । बारह प्रकार का तप तो उत्तरगुणान्तरवर्ती है ही । अनित्य अशरणादि अनुप्रेक्षाएँ–भावनाएँ भी सवर करते हुये हेतुभूत उत्तर गुणानुयायिनी हैं। परिषह भी जो स्वतः आ गये है, सम्यक्रीति से सहन करने के कारण जीते जाते हुये, सवर का आविष्कार करते हैं, अर्थात् संवर होता है । हिसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म, परिग्रह और रात्रि भोजन, जो सश्लेष विशेष से आने वाले कलुष पाप–कर्म के आश्रव के निमित्त हैं, उनका निरोध होने के कारण विरति वाले के उन निमित्तों से होने वाले कर्माश्रव का रोध हो जाता है और आधाकर्मादि परिभोग निमित्त से होने वाला कर्माश्रव भी आधाकर्मादि का त्याग होने से नहीं होता । इस प्रकार इन सब शका दोषों के जाल से विमुक्त, सम्यग्दर्शन पीठ प्रतिबन्ध युक्त, तथा गुप्त्यादि चारित्र मे जिसका मन लगा हुआ है और तत्वार्थ श्रद्धान लक्षण सम्यक्त्व है, उस प्राणी के मिथ्यादर्शन प्रत्ययिक कर्म बन्ध नहीं होता । इस प्रकार हेतु त्याग से आश्रव का अभाव, आश्रवाभाव से कर्मों का अग्रहण होता है ।

सम्यक् रीति से योगों का निग्रह गुप्ति है । जो स्व–स्वरूप के पूर्ण अधिपति हैं, उनके गुण परिणमन रूप समिति का परिणाम है । तथा स्वरूप एकत्व होने पर जो योगवीर्य की स्थिरता है, वही गुप्ति है । अथवा सम्यक् प्रकार से शुद्ध परिणाम वाले मुमुक्षु के योग निग्रहयोगों की अप्रवृत्ति गुप्ति आत्मसरक्षण है । सारांश कि आगमानुसार राग द्वेष रहित परिणति का सहचारी मनोव्यापार मनोगुप्ति है । ऐसी मनोगुप्ति वाले के वचन गुप्ति और कायगुप्ति स्वतः होती है । न कि तस्कर के जैसे जो उग्र गाढ़ बन्धन से बद्ध है और जिसका हृदय–प्रदेश अत्यन्त निपीड़ित है । वह अपनी पराधीनता नही चाहता हुआ श्वास रोक कर निश्चेष्ट हो

जाता है और अपनी चोरी छुपाने के लिए मृतक सा बनकर सारी शारीरिक क्रियाएँ रोक लेता है ऐसा योग निग्रह यहाँ इष्ट नही है । इस प्रकार रागद्वेष रहित परिणति युक्त योग व्यापार के निरोध से सवर सिद्धि बतलाई है । और स्वरूप साधन के लिये विहार आदि के कार्यों मे प्रवृत्ति होने पर भी सवरत्व है ।

समितियाँ —ईर्यासमिति—ईरणम्-ईर्या, अर्थात् गमन को ईर्या कहते है । स्व और पर को बाधा न पहुँचाते हुये चलना ईर्यासमिति है । जैसा कि दशवैकालिक मे उल्लेख है —

पुरओ जुगमायाए, पेहमाणो महिं चरे ।
वज्जतो बीय हरियाई, पाणे अ दग मट्टिय॥३॥
ओवाय विसम खाणु, विज्जल परिवज्जए ।
सकमेण न गच्छेज्जा, विज्जमाणे परक्कमे॥४॥

(दश० ५ अध्य० १ उद्देशक)

अर्थ —आगे युग प्रमाण भूमि को देखता हुआ और बीज हरी-वनस्पति, प्राण—विकलेन्द्रिय-जीव, जल तथा सजीव मिट्टी को बचाता हुआ गमन करे ॥३॥ अन्य मार्ग के रहते अवपात-गड्ढे-ऊबड-खाबड जमीन, कटे हुये सूखे वृक्ष या अनाज के डण्ठल, कर्दमयुक्त मार्ग के छोड दे, जल या गड्ढे के पार करने के लिए लकडी या पत्थर आदि रखे हुये हों उन पर होकर न जाय ॥४॥

इसी प्रकार सम्यग् भाषा जो आगमानुवर्त्तिनी है, भाषा समिति है ।

"जाअ सच्चा अवत्तव्वा, सच्चा मोसा अ जा मुसा ।
जा अ बुद्धेहिं णाइण्णा, न त भासिज्जपन्नव ॥२॥"

(दशवै0 ७ अध्ययन)

अर्थ —बुद्धिमान् मुनि अवक्तव्यसत्य सत्यामृषा—व्यवहारभाषा और मृषा-झूठ, जो पण्डितों द्वारा अनाचीर्ण है, उसे न बोले ।

"महुरं निउणं थोवं कज्जावडिअ मगव्वी अ मतुच्छं ।
पुव्वं मइसंकलियं भणंति तं धम्म संजुत्तं ॥"

अर्थः—पण्डितजन आठ गुणो से युक्त भाषा बोलते हैं । वे गुण हैं—१ मधुर २ निपुण–चातुर्यपूर्ण ३ स्तोक–थोड़े शब्द किन्तु बहु अर्थ युक्त, ४ कार्यापतित–काम पड़ने पर ५ अगर्व–अभिमानरहित, ६ अतुच्छशिष्टजनयोग्य ७ पूर्व मे बुद्धि से संकलित– अर्थात् विचारी हुई और धर्मसयुक्त–जिससे धर्म की हानि न हो ।

एषणा समितिः—आहार, जल, वसति, तथा वस्त्रादि उपधि, दोष रहित ग्रहण करने को एषणा समिति कहते हैं । दयादि साधनार्थ जिनाज्ञा से गृहीत उपकरण–वस्त्र,पुस्तक, पात्र रजोहरण, दण्डादि को ग्रहण करते या रखते समय देखकर तथा प्रमार्जन करके आदान–लेना, निक्षेप–रखना, आदाननिक्षेपणा समिति है ।

पारिष्ठापनिका समितिः—स्थण्डिल–किसी त्यागने योग्य वस्तु को डालने योग्य भूभाग को कहते हैं । वह कैसा हो उसे बताते हैः—स्थावर जगम जन्तुवर्जित होना चाहिये । पृथ्व्यादि ५ स्थावर कहलाते है और द्वीन्द्रियादि पचेन्द्रियपर्यन्त जीव जगम है । इनसे वर्जित–रहित स्थान–भूमि पर आँखों से अच्छी प्रकार निरीक्षण और प्रमार्जन करके पुरीष–मल–मूत्र–श्लेष्म शरीर का मल कफ भक्त पान वस्त्र पात्र आदि का विसर्जन–त्याग करना पारिष्ठापनिका समिति है । समिति गुप्तियों का सवरहेतुत्व कहा गया ।

अब कौन सा धर्म सवर का कारण है ? यह वतलाते हैः—

१ उत्तमक्षमा २ उत्तम मार्दव ३ उत्तम आर्जव ४ उत्तम मुक्ति ५ उत्तमतप ६ उत्तमसंयम ७ उत्तमसत्य ८ उत्तमशौच ९ उत्तम आकिचन्य १० उत्तम ब्रह्मचर्य ।

उत्तम शब्द के ग्रहण से विष गरलादि अन्योन्यदोषरहित, उपकार अपकार विपाकादि हेतुओं से विमुक्त क्षमादि १० धर्म, सवर है और इनसे नये कर्मो का आश्रव–आगमन नही होता ।

इनका स्वरूप इस प्रकार है —

सहन करने को क्षमा कहते है । आपत्ति उपद्रव उपसर्ग आदि होने पर ऐसी भावना करे कि शुभोदय मे भी कर्म विपाक है और अशुभोदय में भी कर्मविपाक है । ऐसा समझ कर किसी के द्वारा आक्रोश छेदन ताडनादि होने पर क्रोध से उद्धत विचार न करे । बल्कि कोई आक्रोश करे तो विचारे कि वह अपशब्द बोलता है तो मेरी आत्मा का क्या बिगडता है ? आक्रोश करने पर क्या पीडा हुई ? ताडना तो नहीं करता । ताडित होने-पीटा जाने पर सोचे कि पीटने से मरण तो नहीं होता । कदाचित् कोई वध भी करदे तो चिन्तन करे कि प्राण कर्मोदयजन्य हैं, इन्हे त्यागने पर आत्मा का क्या गया ? सम्यग्दर्शन-ज्ञानचारित्र रूप साधनामार्ग अक्षय रहने पर सब स्वस्थ ही है । यदि दुष्प्राप्य धर्म है, तो सब अपना अपने पास ही है । अत आक्रोशादि किसी के द्वारा होने पर क्रोध क्यों किया जाय ? समता से रहना चाहिये । विचार करे कि मै क्रोधादि का कर्त्ता नहीं हूँ, न ये मेरे हैं, क्योंकि ये मेरे स्वरूप मे सत्तारूप से नहीं है, अत मै इनका स्वामी नहीं हूँ । मै तो स्वसत्तागत क्षमा धर्म का ही स्वामी हूँ । और क्षमा क्रोधादय से आवृत होने पर भी मेरी स्वलक्षण स्वरूप होने से मेरा धर्म ही है । क्योंकि क्रोध, चारित्रमोहोदयव्याप्त चेतनावीर्य से गृहीत कर्म-दलिकों की विपाक अवस्थारूप है, वह मेरा कैसे हो सकता है ।

इस प्रकार की भावना से क्रोधोदय की निष्फलता करनी चाहिये तथा क्षमामय होना चाहिये । एव मानोदय को हटाने का प्रयत्न नम्रताभाव से, मार्दव से करना योग्य है । मायोदय का निवारण आर्जव-सरल भाव से करे, और इसी प्रकार लोभोदय के त्याग से मुक्ति-नि स्पृहता की परिणति होती है । जिससे ज्ञानादिगुण दीप्त हों, उसे उत्तम तप कहते है । वह सवर रूप है । इसमे स्वगुण भोग की मुख्यता है । स्वगुणों के ऊपर रहे कर्मावरण को तपाना-सुखा देना नष्ट कर देना वह तप निर्जरारूप है ।

इसमे वीर्य–शक्ति की मुख्यता है । तप बारह प्रकार का हैः—

१. अनशन, २. ऊनोदर, ३. वृत्तिसंक्षेप, ४. रसत्याग, ५. कायक्लेश ६. संलीनता । ये बाह्य तप हैं । १. प्रायश्चित, २. विनय, ३. वैयावृत्य ४. स्वाध्याय, ५. ध्यान ६. व्युत्सर्ग ये आभ्यन्तर तप हैं ।

उत्तमसंयम—क्षयोपमशम के न होने से जो पर–जड़–पुद्गलानुयायी रूप परिणाम हैं वे असंयम हैं । साधकरूप से स्वगुणों के बाधक हैं । उन परिणामों को स्वसाध्य साधन में परिणत करना संयम है । मनोवाक्काय योग व इन्द्रियों की दुष्प्रवृत्ति का निरोधरूप सयम संवर है ।

उत्तम सत्य—सत्य, मृषावाद विरमण से होता है । वस्तु स्वरूप का यथार्थ ज्ञान भाव–सत्य है । तत्पूर्वक वाक्य भी सत्य होता है । जिस आत्म स्वभाव या गुण का जैसा परिणाम है, वैसा होना सत्य परिणति है ।

उत्तम शौच—मानसिक अध्यसायों को शुद्ध रखना । परवस्तु के विषय मे सकल्प विकल्प करने से मन अपवित्र होता है; अतः पौद्गलिक पदार्थो के ग्रहण भोग आदि का विचार न करना मानसिक शौच है । इसी प्रकार वाचिक और कायिक पवित्रता के सम्बन्ध मे भी समझ लेना चाहिये । असत्य भाषण, वचन योग को अपवित्र करता है, तथा शारीरिक असयम से शरीर अशुद्ध बनता है । तीनो की अशुद्धता से आश्रव और पवित्रता से सवर है ।

उत्तम आकिंचन्य—आत्मस्वरूप के बाधक परभावों के अग्रहणरूप परिणामों को त्याग कहते हैं । जो साधक अवस्था में होता है । वस्तुतः मैं समस्त परभावों का अभावस्वरूप हूँ, "मुझे परभाव का संसर्ग करना योग्य नहीं" यह भावना से स्वगुणोहपकरणोद्वारा पर भाव का ग्रहण नही करते हुये, पूर्वगृहीत परभाव का अत्यन्त अभाव करने के लिये, बाह्य से सर्वसंगरहितता व अन्तरंग से भी सर्व परभावों का अभोक्तृत्व आकिञ्चन्य है । मुझे जो असख्यातप्रदेश अमूर्त्त, चिन्मात्र स्वरूप हूँ, परभावों मे ममत्व और उनका सग करना उचित नहीं है । अतः मैं सदा से अकिंचन

स्वरूप हूँ । मै शुद्ध अध्यात्मस्वरूप परिणामिक स्वभाव, परभावों का केवल ज्ञापक हूँ। अत मै परभावों का न ग्राहक हूँ न रक्षक ।

उत्तम ब्रह्मचर्य —परभावों से उत्पन्न वर्ण गन्ध रस और स्पर्श का भोग-मैथुन है । वही अब्रह्म है । उसका त्याग होने पर ही, आत्मिक आनन्द से एकरूप वने हुए ज्ञानदर्शनचारित्रादि स्वगुणो का भोग होता है । मैं स्वरूप का भोक्ता हूँ । परभाव का भोक्ता नहीं हूँ । स्वभाव भोगरूप ब्रह्मचर्य है, वह मेरा धर्म है । धारण करने योग्य है । अथवा परभावरमण के अभाव से स्वरूप मे रमणरूप तप है । परभावों का अग्रहण होने से त्याग, और परभावों का अरक्षण होने से वास्तविक आकिचन्य है । तथा परभावों के अभोगरूप ब्रह्मचर्य है ।

ये दश मुनि धर्म है । मुनियो की साधना के रूपों के भेद है । इनमे क्षमादि चार चारित्र के परिणाम है । तप सयम सत्य और शौच, ये गुण सकर (मिश्र) परिणाम है । आकिचन्य और ब्रह्मचर्य भी चारित्र के परिणाम हैं । इस प्राकर ये श्रमण धर्म जानने चाहिये । इन गुणों मे परिणमन करता हुआ आत्मा अभिनव कर्म नहीं बाँधता । तथा इन गुणों से परिणत व परिणमन के इच्छुक अपरिणत भी और गुणाभ्यासरसिक, वारह भावनाओं से आत्मा को भावित करते हुये आत्मा भी नये कर्मो के अग्राहक होते हैं ।

यहाँ कोई शका करे कि भावनादि मे तो अर्वाक्-पूर्व (षष्ठगुण स्थान से पहले प्रथम द्वितीय तृतीयादि) गुणस्थानवर्ती भी होते है वे अभिनव कर्मो के अवन्धक क्यों नहीं है ? उसका समाधान यों है —

जितनी चेतनादि प्रागभावी क्षायोपशमिकी शक्ति भावनानुयायि भावना हैं उतनी ही अवन्धक है ।

श्री भगवतीसूत्र मे कहा है —

"तहारूवाण समणाण माहणाण तहारूवेण असणपाण खाइमसाइमेण पडिलाभेमाणे कि कज्जति ? एगते सो निज्जरा कज्जति नत्थि से पावकम्मे"

अर्थात्—तथारूप-भगवदाज्ञानुसारी श्रमणब्राह्मण को तथारूप शुद्ध अशन पान खदिम स्वादिम का दान करता हुआ जीव क्या करता है ?
उत्तरः—वह एकान्तरूप से निर्जरा करता है पापकर्म नहीं बाँधता ।

यहाँ देशविरति श्रावक के ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय व अन्तराय का ध्रुवबन्धकत्व होने पर भी मुनि को दान देने मे प्रवृत्त होने से उपयोग, योग, वीर्यादि का अबन्धकत्व कहा है । शेष शरीरराग, परिग्रहराग, असयमादि से तो उसके बन्धकत्व ही जानना चाहिये । इस प्रकार भावनादि मे जितनी जीवशक्ति की प्रवृत्ति है, उतनी सवर रूप है, शेष परभावादि मे प्रवृत्त शक्ति बन्धकारक है, यह आशय है ।

अब द्वादशभावनाओं का स्वरूप कहते हैः—

१. **अनित्यभावनाः**—द्रव्यों का एकान्तरूप से नित्यत्व अनित्यत्व नही है । सभी द्रव्य, द्रव्यरूप से नित्य और पर्यायरूप से अनित्य है । संयोगी भाव तो नियम से अनित्यस्वभाववाले हैं ही । अतः ऐसी भावना करनी चाहिये कि ये शरीर, धन, स्वजन भोगादि सभी अनित्य हैं । इन्हें इष्ट, प्रिय, स्थिर नहीं समझना चाहिये और न ममत्वबुद्धि रखनी चाहिये । इनकी अनित्यता का विचार या अनुप्रेक्षा अनित्य भावना है ।

२. **अशरण भावनाः**—ससार मे धन स्वजन कुटुम्बादि, मेरे ज्ञानादि आत्मगुणों के रक्षक नहीं हैं । शरण लेने योग्य तो वे स्वरूप रुचि परिणत, स्वरूपज्ञानी, स्वरूपभोगी, स्वरूप मे रमण करने वाले स्वरूपदर्शी आत्मा ही हैं; जो अर्हत्, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, और निर्ग्रन्थ स्वरूप हैं । इनका आलम्बन लेकर आत्मा स्वस्वरूप विश्रामी, अव्ययानन्दभोगी, पुद्गलानुभवत्यागी और स्वात्मविभूतिवान् होता है । एवं जन्म-मरण-शील आत्मा के लिये जो स्वयं जन्मजरामरणादि दुःखों से पूर्णतया लिप्त है, वह शरण नही हो सकता । इस प्रकार विचार करते हुये ऐसा सोचना कि 'ससार मे कोई शरण नहीं है'; अशरण भावना है । इस भावना से आत्मा को भावित रखने पर सदैव भयभीत आत्मा की सांसारिक

भावों-मनुष्य या देवसम्बन्धी सुखों मे और गज, अश्व, सुवर्ण, रजत, मणिरत्नादि पदार्थों मे आसक्ति या प्रीति नहीं रहती और वह तीर्थंकर प्रणीत शासन मे कहे हुये विशेष ज्ञान चारित्र आदि मे प्रवृत्त होता है। आशय यह है कि ऐसा निश्चय कर लेता है कि "मैं ही मेरा शरणरूप हूँ, अन्य कोई नहीं"? आत्म धर्म की उपासना से ही मुझे सुख होगा।

३ ससार भावना —ससार मे ससरण-भ्रमण करते हुए, अनन्तपुद्गलपरावर्त्तन काल से भटकते हुये, मैं किस-किस अवस्था को प्राप्त नहीं हुआ ? व्यवहारराशि को पाकर मैने किस-किस से सम्बन्ध नहीं किया ? सभी अवस्थाओं मे रह चुका हूँ और सभी के साथ सम्बन्ध कर चुका हूँ। यहाँ मोहग्रस्त प्राणी विषयतृष्णा के कारण असह्य दुखों का अनुभव करते है। वास्तव मे यह ससार जन्ममरण, हर्ष-विषाद, सयोग, वियोग, सुख-दुखादि द्वद्वमय है। यहाँ दुख अधिक व सुख स्वल्प है।

४ एकत्व भावना —यहाँ ससार मे भ्रमण करते हुये सुख नहीं। सुख तो स्वरूप-ज्ञानदर्शन रूप उपयोग के एकत्व परिणमन से है। अर्थात् स्वरूप मे स्थित रहने मे है। मै आत्मा एक हूँ, पर-जड सगी नहीं हूँ। वीतराग, वीतद्वेष स्वभाव वाले आत्मा का कोई सगी-साथी नहीं होता।

५ अन्यत्व भावना —धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्ति-काय, काल, पुद्गलास्तिकाय ये सर्वद्रव्य अजीव है। ये सर्व मुझ से-जीव से अन्य भिन्न है। जीव यद्यपि अनन्त है, पर वे भी सब पृथक् सत्ता वाले होने से मुझ से भिन्न हैं। इस प्रकार अन्यत्व की भावना करने से स्वरूप स्थिति होती है।

६ अशुचि भावना —सभी पुद्गल एक-एक जीव के द्वारा अनन्तबार पहले भोगे हुये हैं। अत अत्यन्त अपवित्र हैं। उनमें राग रखने से मैं भी अपवित्र हूँ। तत्वत चिद्रूप पवित्र है, उसमे रमण करना योग्य है।

७. **आश्रवभावनाः**—मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग मनोवाक्काय रूप आश्रव है, वे त्याज्य हैं । मै आश्रवों का कर्त्ता नहीं हूँ न आश्रय मेरे स्वभाव है ।

८. **संवरभावनाः**—ज्ञान दर्शन चारित्ररूप परिणाम सवर है । सवर मेरा धर्म है । मै संवरवान् हूँ ।

९. **निर्जरा भावनाः**—पूर्वबद्ध कर्मो के क्षपण रूप निर्जरा है, वह स्वरूप कहलाता है । वह पूर्वगृहीत और अभिनव कर्मो का क्षय करने के लिए करणीय है ।

१०. **लोक स्वभाव भावनाः**—मैने अजा वाटक[१] न्याय से सारे चतुर्दशरज्वात्मक लोक का अनन्तबार स्पर्श कर लिया है । अतः लोक परिभ्रमण मेरा धर्म नहीं है । मेरा लोक तो असख्यातप्रदेशों मे अनन्त ज्ञान परिणति परिणामस्वरूप है, और उसका यथार्थ उत्पाद व्यय ध्रौव्य संकर सहकार सहजवृत्ति से होना लोक है । वह मेरा धर्म है । अर्थात् आत्मा का अपना लोक असख्यात आत्मप्रदेशमय है । उसमे ज्ञानादिगुणों के पर्यायों का उत्पाद व्यय ध्रौव्य निरन्तर होता रहता है । उस लोक मे ही मुझे रहना है । वही मेरा वास्तविक लोक है । यह लोकस्वभाव भावना आत्मस्थिरता कारक है ।

११. **बोधिदुर्लभ भावनाः**—बोधि अर्थात् सम्यक्त्व, जो यथार्थ प्रतीतरूप तत्वश्रद्धा है, वह दुर्लभ है ।

१२. **धर्मभावनाः**—

लब्भइ सुरसामित्तं लब्भइ पहुअत्तणं न संदेहो ।
इक्को नवरि न लब्भइ, जिणंदवर देसिओ धम्मो ।।

अर्थः—इस संसार मे भ्रमण करते हुये आत्मा को शुभ कर्मोदय से सुरस्वामित्व, इन्द्रत्व मिल सकता है, और मनुष्यजन्म मे भी प्रभुत्व प्राप्त

---

१ जैसे बकरी बाड़े मे अनेक बार रखी जाने से सारे बाड़े का स्पर्श कर लेती है ।

हो सकता है । किन्तु तीर्थङ्कर भगवान् द्वारा उपदिष्ट धर्म प्राप्त होना अत्यन्त दुर्लभ है ।

आत्मस्वभाव ही धर्म है, और उस धर्म को प्रकट करने में हेतुभूत धर्म श्रुत और चारित्र स्वरूप है । उसके साधक निर्ग्रन्थादि हैं । देशविरति सर्वविरति के योग्य भगवदाज्ञा पालन व विरति आदि के परिणाम-भाव, अत्यन्त दुर्लभ है । ये द्वादश भावनाएँ हैं। आत्मधर्म के साधन के कारण होने से ये धर्मरूप सवर के भेद हैं ।

पदार्थों की परिणति जिस प्रकार परिणत होती है, उसी प्रकार परिणत होती हुई स्थिति होती है । अत छह द्रव्यों मे से चार-(धर्म, अधर्म, आकाश और काल) द्रव्यों के सदैव अवस्थित परिणति वाले होने से आश्रय नही है । पुद्गल द्रव्य की पुद्गलों के स्कन्धरूप से परिणति होती है, तथापि कर्तृत्व का अभाव होने से आश्रव नहीं होता । जीव के तो पुद्गल भोक्तृत्वादि परिणति से व अयथार्थ कर्तृत्व भोक्तृत्वादि की परिणति से आश्रवता (कर्मो का आगमन) है । उस परिणति के अभाव में अनाश्रवता है । अत अनादिकाल से खानि[1] मे साथ सम्पन्न मिथ्यात्व व असयमरूप से आत्मा का परिणमन होने से परभाव ग्राहकतारूप परिणति है । वही आश्रव परिणति है और परग्राहकता आश्रव है । पुद्गलों का स्वक्षेत्र-आत्मप्रदेशों मे लोलीभाव करना विपर्यस्त है- विरुद्ध कर्तृत्व की परिणति है । उससे विरुद्ध अवन्ध रहकर स्वरूप का ग्रहण सवर है, और स्वरूप मे अवस्थिति हो जाना मोक्ष है ।

यथावत् सतोगुण प्राग्भाव लक्षण देशत मोक्ष है, तथा अयोगिगुण-स्थान के चरम समय मे यही सर्वत्र मोक्ष है । अर्थात् सम्यक्त्व प्राप्ति से लेकर अयोगीगुणस्थान से पूर्व देशत मोक्ष और चौदहवे गुणस्थान के

---

[1] खानि- जैसे खानि में स्वर्ण के साथ मिट्टी आदि रहते है ।

अन्तिम समय मे सर्वतः मोक्ष होता है । यही बात आचाराग द्वितीय श्रुतस्कन्ध के विमोक्षाध्ययन की टीका मे कही है—

"संपत्ते सम्मत्ते अणाइ मिच्छत्तदोस विणासे ।
तत्तरुइ निद्धारे, अतत्त चाए अ निद्धारो ।।"

अर्थ—अनादि मिथ्यात्व दोष का विनाश होने पर सम्यक्त्व की सम्प्राप्ति होती है । तत्त्वरुचि का निश्चय, अतत्वरुचि का त्याग होने पर होता है । इसे निर्द्धार कहते हैं ।

इस वाक्य से आत्मा सम्यग्दर्शन प्रकट होने पर विरुद्ध निश्चय रूप मिथ्यात्व को त्याग देता है । तत्व अर्थात् आत्मस्वरूप मे ही तत्वसारत्व का ही निर्द्धारण करता है, और अतत्व-पुद्गलादि भोग को करता हुआ भी 'इनके त्याग मे ही मेरा हित है', ऐसा निश्चय कर लेता है सम्यग्दृष्टि जीवों की परभाव मे प्रवृत्ति तप्तशिला पर पाँव रखने के समान ही है; अतएव परभाव को असारत्व लक्षण जानने से कर्मबन्ध नहीं होता । वह ४१ प्रकृतियों का अबन्धक है । उसके नरक, तिर्यक् गति मे जाने के हेतुभूत आश्रव का निरोध करना, इतना सवर है । कर्म स्थिति मे भी मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट सत्तर कोड़ा-कोड़ी सागरोपम की स्थिति मे से ६९ कोटाकोटि का अबन्धक है । सम्यग्दृष्टि भावना रखता है, कि सर्व पौद्गलिक परभाव मेरे नहीं है, न मैं उनका हूँ । 'परभाव से संसर्ग रखना ही संसार है । इस प्रकार के परिणाम और ससार का उच्छेद करने वाली रुचि वाला व्यक्ति, परभाव के एकत्व रूप को उत्पन्न करने वाले कर्म का आश्रव नहीं करता; अतः उसके उतना तो सवर है ही ? बँधती हुई सर्व प्रकृतियों मे उत्कृष्ट एक कोटा-कोटि सागरोपम का ही बन्ध है । अतः प्रथम सम्यक्त्व संवर है ।

द्वितीय सम्यग्ज्ञान सवर है । वह विपर्यास भासन (गलत समझ) के नष्ट होने पर यथार्थ भासन प्राग्भाव मे सम्यग्ज्ञान है । उसमे शुद्धदेव,

इसी अज्ञान के कारण रागद्वेष मोहरूप आस्रवभाव से आत्मा को भावित करता रहता है । इससे कर्मो का बन्ध होता रहता है और जीव शरीरादि धारण करता हुआ ससार भ्रमण की परम्परा बढ़ाता है । जब आत्मा तथा कर्म के भेदविज्ञान से शुद्ध चैतन्य स्वरूपमात्र आत्मा को जान लेता है, तब मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति और योग लक्षण अध्यवसाय व आश्रव भाव के हेतुओं का अभाव हो जाता है । फलस्वरूप रागद्वेष मोहादि नही होते । इनके अभाव मे कर्म नोकर्मादि-शरीरादि का अभाव होता है । कर्म नोकर्मादि के अभाव में क्रमश ससार भ्रमण घटता है । इस प्रकार से सवर का क्रम है । कहा भी है –

"सम्पद्यते सवर एष साक्षाच्छुद्धात्मतत्वस्य किलोपलम्भात् ।
सद्भेदविज्ञानत एव तस्मात्, तद् भेदविज्ञानमतीव भाव्यम् ।६।

अर्थ —शुद्ध आत्मतत्व के ज्ञान से, जो उत्तम भेदविज्ञान से होता है, ऐसे उस उत्तम भेदविज्ञान से ही साक्षात् सवर प्राप्त होता है। भेदविज्ञान की सदैव भावना करनी चाहिये ।

"भावयेद् भेदविज्ञान—मिदमच्छिन्नधारया ।
तावद् यावत्पराच्च्युत्वा ज्ञान ज्ञाने प्रतिष्ठिते ॥७॥

अर्थ —यह भेदविज्ञान तब तक अविच्छिन्न धारा से करना चाहिये, जब तक कि अज्ञान से हटकर ज्ञान मे प्रतिष्ठित नहीं हो जाय ।

"इत्येव प्रविभज्य स्वात्मपरता तत्त्वैकता ये गता,
स्तेषा चेतनता न याति परता शुद्धात्म भावे रता ।
सन्तस्ते न लभन्ति कर्मपटल पूर्व दहत्यञ्जसा,
शुद्धस्वीयसमाधिसाधनपरा सिद्धि रमन्तेतराम् ॥८॥

अर्थ —यों आत्मा और पर-जड कर्म नोकर्म आदि का उक्त प्रकार से अपने आत्मा से पूर्णतया भेद करके जो साधक तत्त्व आत्मतत्त्व की एकता को प्राप्त होते है, वे शुद्ध आत्मभाव मे रम जाते है और उनकी ।ना पर-जडभाव को प्राप्त नहीं होती । ऐसी स्थिति मे होने से

कर्मपटल–समूह का आना रुक जाता है और पूर्वसञ्चित कर्म भी शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं । इस प्रकार अपनी शुद्ध समाधि साधन मे तल्लीन रहने वाले परमसिद्धि मे रम जाते हैं ।

॥ इति श्री अध्यात्म प्रबोध अपरनाम देशनासार ग्रन्थ
का पाँचवाँ संवराधिकार ॥

• • • • • • • • • • • • •

॥ निर्जरा–स्वरूप वर्णन नाम षष्ट अधिकार ॥

अब निर्जरा का स्वरूप दिखलाते हैंः–

मिथ्यात्वाश्रववारणान्निजपदे तिष्ठन् परः संवरः,
रागद्वेषविमोहरंगरहितो भुञ्जन् विपाकं स्वकम् ।
प्राक् सत्तागतकर्मपुंजदलने तत्वैकतां सञ्चरन्,
या कर्मक्षयकारणा परिणति स्सा निर्जरा गीयते ॥१॥

अर्थः—आत्मा जिस समय मिथ्यात्वादि के आश्रव को हटा देने से श्रेष्ठ संवर में स्थित रहता हुआ रागद्वेष विमोह के रंग से विहीन अपने विपाक को भोगता हुआ, आत्मतत्व की एकता मे सञ्चरण करता हुआ, पूर्व मे सत्तागत कर्म समूह को दलन करने मे तत्पर रहता है । उस समय की जो कर्मक्षय करने की परिणति है, वह निर्जरा कहलाती है ।

विरागवान् आत्मा के जो कर्मोदय होता है, वह निर्जरा के लिए होता है । और रागादि के सद्भाव वाले आत्मा के मिथ्यात्व असयम मय होने से कर्मोदय तथा भोग बन्धनिमित्त हो जाते हैं । रागादि भावों के अभाव मे कर्म का उदय और भोग दोनों ही सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र परिणत आत्मा के निर्जरा के निमित्त वन जाते हैं ।

अव भाव निर्जरा का स्वरूप कहते हुये बतलाते है–

कम्मे उवभुजते नियमा जायति सुह व दुक्ख वा ।
तत्त अरागदोसो वेदतो निज्जर कुणइ ॥१॥

अर्थ —कर्मदलिकों को भोगते हुये उनके निमित्त से साता या असाता होती है । इन विकल्परूपों को अनतिक्रम से वेदते हुये जीव के सुखरूप या दु खरूप नियम से परिणाम उदय होते है और वे रति अरति रूप रहते है । उस समय मिथ्यादृष्टि जीव के रागादि भावों के सद्भाव से भोगे जाते हुये, नये कर्मदलिक मात्र का क्षरण और उन कर्मदलिकों से असख्यातगुण नये कर्मदलिकों का बन्ध ही होता है, निर्जरा नहीं होती । अत मात्र वन्ध कहलाता है, और सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र वाले आत्माओं के तो रागद्वेषादि मे अव्यापकत्व से व रति अरति के अभाव मे वन्ध निमित्त का अभाव होने से केवल निर्जार्यमाण निर्जीण होते हैं, अत निर्जरा ही होती है ।

अहो ज्ञानस्य सामर्थ्य विरागस्यैव वा पुन ।
भुञ्जन्तो कर्मभोगानि तद् भिन्न सन् न बध्यते ॥२॥

अर्थ —अहो ! ज्ञान का अथवा विराग का सामर्थ्य देखिये कि आत्मा कर्म के भोगों को भोगता हुआ भी, कर्म से भिन्न होने से नहीं बँधता । इसे उदाहरण द्वारा समझाते है–

जैसे कोई विषवैद्य–जाङ्गुलिक वन्यजीवों का विष जो मार देने वाला है, उसे स्वय चूसता हुआ भी अपनी अमोघ (अव्यर्थ) विद्या सामर्थ्य से विष की शक्ति का निरोध कर देने के कारण मरता नहीं है, वैसे ही ज्ञानी के भी पुद्गल कर्मोदय को भोगता हुआ भी अमोघज्ञान के सामर्थ्य से राग द्वेषादि दोषों का अभाव होने पर रागद्वेषादि की शक्ति का निरोध हो जाता है । फलत बँधता नहीं । तत्वज्ञानविहीन आत्माओं के रागादि का सद्भाव है अत विपाक का भोग बन्ध का कारण बनता है ।

ज्ञानवान् विरक्त आत्मा के अत्यन्त निर्जरा होती है, उसे बतलाते हैं:-

जैसेमद्य पीता हुआ व्यक्ति यदि अरति से पीता है, तो उसे मद (नशा) नहीं होता । वैसे ही द्रव्य उपभोग मे ज्ञानी को अरति रहने से वह भी बँधता नहीं, प्रत्युत निर्जरा ही करता है ।

अब पुनः इसे ही दिखलाते हैं:-

कुव्वंतो वि न कीरइ अकुव्वतो वि को वि कीरइ ।
पगरण चेट्ठाकस्स विण पायरणोत्ति सो होइ ॥२॥

अर्थः—जैसे कोई प्राघूर्णक भय से विवाह के कार्य करता हुआ प्रकरण व्यापार मे व्यापार (कार्य) करता हुआ भी प्रकरण स्वामित्व के अभाव मे उस प्रकरण का स्वामी नहीं हो जाता और प्रकरण स्वामी तो प्रकरण कार्य मे व्यापार (कार्य) न करता हुआ भी उसका स्वामी होने से वही प्राकरणिक कहलाता है ।

इसे थोड़ा स्पष्टता से यों समझे—किसी के घर विवाह होता है । विवाह सम्बन्धी विभिन्न कार्य पृथक्-पृथक् व्यक्तियों को सौप दिये जाते हैं । वे उन-उन कार्यों को करते व अन्य जनों से करवाते हैं, परन्तु उसे अपना कार्य नहीं समझते; क्योंकि वे स्वामी नहीं हैं । स्वामी तो जिसके घर विवाह है, वही है । और यश अपयश हानि लाभ आदि का भागी भी गृहस्वामी ही होता है । वैसे ही सम्यग्दृष्टि आदि गुणों से युक्त आत्मा भी पूर्व सचित कर्मो का उदय होने पर विषयादि विपाकों का सेवन करता हुआ भी रागादि भावों के असद्भाव मे उनके सेवन मे स्वामित्व का भाव न होने से सेवन करने वाला नहीं है । मिथ्यादृष्टि के तो विषयों का सेवन करते हुये रागादि भावों के होने से सेवन फल का स्वामित्व है, अतः सेवन करने वाला है ।

जैसे निर्ग्रन्थों के आहारादि करने पर भी शरीरपोषण के हेतु का अभाव होने से निर्जरा ही है, बन्ध नहीं, यह जानना चाहिये। सम्यग्दृष्टि

तो सामान्यतया अपने को अपना और पर को पर जानता है । यह वतलाते हैं-

उदय विवागो विविहो कम्माण भासियो जिणदेहि ।
णहु ते मज्झ सहावो जाणग भावी अह सुद्धो ॥३॥

अर्थ —जो जिनेन्द्र कथित कर्मादि के विपाक से होने वाले विविध भाव है, वे मेरे स्वाभाव नहीं है । जो पर पुद्गलानुयायी स्वधर्म मे अप्रवृत्तिरूप वन्धादि अध्यवसाय है, वे मेरे स्वभाव नहीं है । और जो अनादि समवाय सम्बन्ध से स्थित ज्ञानादि स्वगुण है, वे मेरे है । मै उन ज्ञानादि स्वरूप हूँ । यही टकोत्कीर्ण ज्ञायक स्वभावरूप मै हूँ । ऐसा जानता हुआ कर्मो से वद्ध नही होता और पूर्ववद्ध की निर्जरा होती है ।

पुन इसी को स्पष्ट करते है-

पुग्गल कम्मनिमित्त, रागविवागोदयो हवइ एसो ।
ण हु ते मज्झ रुहावो, णायग भावो हु अहमिक्को ॥४॥

अर्थ —राग निश्चय से पुद्गलकर्म है । पुद्गलकर्म के विपाकोदय से उत्पन्न यह राग रूप भाव है, तथापि यह मेरा स्वभाव नहीं । मै तो सोलह बार तपाये हुये शुद्धसुवर्णवत् मात्र ज्ञायक स्वभाव वाला हूँ ।

इसी प्रकार प्राणातिपातादि (हिसादि) पापस्थान, मनोवाक् काययोग, पाँच इन्द्रियो के विषयग्रहण आदि ये सर्व भी मेरे स्वभाव नहीं हैं। मै तो शुद्ध ज्ञायक परिणामों से परिणत ज्ञानदर्शनादि अनन्त शक्तिमय, अरूपी, अखण्ड, चिदानन्द स्वरूप हूँ । इस प्रकार सम्यग्दृष्टि स्वय को जानता हुआ और रागादि को छोडता हुआ, नियम से ज्ञान वैराग्य सम्पन्न होता होता है । इसे ही कहते है-

एव सम्मदिट्ठी अप्पाण मुणइ सुद्ध उवओगी ।
सजोगभाव भाव मुच्चइ तत्त वियाणतो ॥५॥

अर्थः—इस प्रकार सम्यग्दृष्टि सामान्य और विशेष से स्वपरस्वरूप सर्व भावों से विवेचना करके टंकोत्कीर्ण एकमात्र ज्ञायक स्वभाव वाले आत्म तत्व को पूर्णरूप से जानता है; तथा स्याद्वादपूर्वक यथार्थता से तत्व को जानता हुआ स्व पर भावों का पृथक्त्व करके, स्व के वास्तविक रूप को बढ़ाता हुआ, कर्मोदय के विपाक से उत्पन्न भावों को जानकर, सभी को छोड़ देता है । तत्पश्चात् वह आत्मा नियम से ज्ञानवैराग्य सम्पन्न हो जाता है ।

सम्यग्दृष्टिः स्वमात्मानं जानन्नैवात्र बन्धते ।
मिथ्यादृष्टि पर स्वीयमजानात्र बन्धते ॥३॥

अर्थः—सम्यग्दृष्टि अपने आत्मा को जानता हुआ ससार मे बॅधता नहीं है । और मिथ्यादृष्टि स्व और पर को न जानता हुआ बँध जाता है ।

यहाँ कोई शका करे कि सम्यग्दृष्टि परभावों का रागी क्यों नहीं होता ? उसका समाधान करते हैः-

परमाणुमित्तयं पि हु, रागादीनां तु जो नियं वेई ।
ण य सो जाणई अप्पं वेदण नाण संजुत्तो ॥६॥
अप्पाणमयाणंतो अणप्पय वा वि सो अयाणंतो ।
कह होई सम्मदिट्ठी जीवाजीवे अयाणंतो ॥७॥

अर्थः—जो रागादि अज्ञानमय भावों के लेशमात्रभाव को अपना जानता है । स्वसंवेदनज्ञान के अभाव के कारण उसका ज्ञान अयथार्थ है । श्रुत के अभ्यास से युक्त होने पर भी वह आत्मा को नहीं जानता । और जो आत्मा को नहीं जानता, वह पर को भी नहीं जानता । स्व सत्ता या परसत्ता इनमें से एक का भी निर्द्धारण न होने से जो स्वीयआत्मा के और पर-पुद्गल (जड़) के भावों को नहीं जानता, वह जीव अजीव को भी नही जानता । जीव अजीव के यथार्थज्ञान के अभाव मे आत्मा

सम्यग्दृष्टि भी कैसे हो सकता है । आगम मे कहा है –

"जो जीवे वि वियाणेइ अजीवे वि वियाणेइ ।
जीवाजीवे वियाणतो सो हु नाही इ सजम ॥१॥

("दशवैकालिक ४ अध्ययन")

तथा उत्तराध्ययन मे–

एव पचविह नाण दव्वाणय गुणाणय ।
पज्जवाण य नाणेण नाण नाणीहि देसिय ॥२॥

अर्थ—जो जीव को भी जानता है, अजीव को भी जानता है जो इस प्रकार जीव अजीव दोनों को जानता है, वह सयम को भी जानता है । इस प्रकार ज्ञान के पाँच भेद है । द्रव्यों को, गुणो को तथा पर्यायो को जानने से ज्ञानियो ने ऐसे ज्ञान को ज्ञान कहा है ।

इस प्रकार वस्तुतत्व को जानने वाला ही ज्ञानी है, अन्य नहीं ।

"आनादि ससारप्रचारशीला,
न रागादिभावान् स्वकीयान् विजानन् ।
सम्वध्यते कर्म पदैरनेकै
स्तस्माच्च मिथ्यात्वपद त्यजध्वम् ॥"

अर्थ—जो मिथ्यादृष्टि आत्मा है, वह अनादि काल से ससार मे भटकने के स्वभाव वाला है । और रागादि भावों को अपना जानता हुआ अनेक कर्मपद समूहों से सम्वद्ध होता है । अर्थात् कर्मो से बँधता है । अत मिथ्यात्व पद को छोडिये ।

वास्तव मे जो आत्मा अपने अनन्त और अनेकान्तिक भावों को जानता हुआ व स्व से भिन्न सभी परभावो को पररूप जानता हुआ, स्वपद मे पूर्ण रमण करने वाला होता है, वह शुद्ध सवर वाला है और जीर्ण कर्मदलिकों की निर्जरा करता है । शुद्ध आत्मा का स्वरूप आचाराङ्ग सूत्र में ऐसा बतलाया है —

सव्वे सरा नियट्टन्ति, तक्का जत्थ न विज्जइ, मई तत्थ न गाहिया, ओए, अपइट्ठाणस्स खेयन्ने, से न दीहे न हस्से न वट्टे न तसे न चउरंसे न परिमंडले न किण्हे न नीले न लोहिए न हालिद्दे न सुक्किले न सुरभिगंधे न दुरभिगंधे, न तित्ते न कडुए न कसाए न अबिले न महुरे न कक्खड़े न मउए, न गुरुए न लहुए, न सीए न उन्हे, न निद्धे न लुक्खे, न काउ न रूहे न संगे, न इत्थी न पुरिसे, न अन्नहा परिन्ने सन्ने उवमा न व विज्जए, अरूवी सत्ता, अपयस्स पय नत्थि (सू. १७०)

(लोक । *अध्य० ५, उद्देशक ६)*

भावार्थः—उस आत्मा को कहने मे सभी स्वर असमर्थ हैं । इस विषय मे–आत्मा के सम्बन्ध मे कोई तर्क नहीं चलता । अर्थात् आत्मा अक्षरों, स्वरों व तर्क से अतीत है । बुद्धि भी उसे ग्रहण नहीं कर सकती । वह ओज रूप, अर्थात् समस्त मलकलक से रहित है । वह औदारिक शरीरादि से विहीन, अर्थात् सर्व कर्म से मुक्त खेदज्ञ केवल ज्ञानयुक्त है । उसका कोई सस्थान–दीर्घ, ह्रस्व, वृत्त, व्यस, चतुरस और परिमण्डल, नहीं है । वह आत्मा वर्णरहित है । अर्थात् आत्मा काला, नीला, रक्त, पीला और शुक्ल नहीं है । वह गन्धरहित–सुगन्ध दुर्गन्ध विहीन है । रस–तिक्त, कटुक, कषाय, आम्ल मधुर रूप नहीं हैं । आत्मा का कर्कश, मृदु, गुरु, लघु, शीत, उष्ण, स्निग्ध रुक्ष आदि कोई स्पर्श नहीं है । वह आत्मा सर्व कापोतादि लेश्याओं से रहित है, अथवा काऊ शब्द से शरीर भी लिया जाता है, आत्मा के शरीर नहीं है । न रुहे अर्थात् पुनः उत्पन्न होने वाला नहीं है । सग रहित है । न स्त्री है, न पुरुष है । न अन्यथा–नपुसक है । परिज्ञ–सर्वज्ञ–संज्ञ सर्वदर्शी है । उसे समझाने को कोई उपमा नहीं है । आत्मा की सत्ता अरूपी है । उस अपद का कोई पद नहीं है; क्योंकि आत्मा अमूर्त्त है ।" इस प्रकार आत्मज्ञानी सर्व परभावों को आत्मा के नहीं जानता है । आत्मज्ञानी के अनेक का उपभोग होने पर भी, परवस्तु मे आत्मभाव नहीं है । ज्ञान ही

वास्तविक आत्मस्वरूप है । वही आत्मधर्म है । परभाव आत्मा का स्वरूप नहीं । कहा भी है–

"एकमेव हितत्स्वाद्य विपदामपद पदम् ।
अपदान्येव भासन्ते पदान्यन्यानि तत्पुर ॥५॥

अर्थ —वह आत्मा एक ही स्वाद्य है, जो समस्त विपताओं का स्थान नहीं है । वह स्वय पद रूप है । उसके सम्मुख अन्य सर्वपद अपद भासित होते है ।

"शुद्धात्मभावरसनिर्भर भोगयुक्त,
स्त्यक्तान्य भोग परवस्तुनि निर्विकल्प ।
स्वात्माववोध विशदाखिलविश्वभाव
स्वीय पद विलसति प्रकटात्मयोगी ॥६॥

अर्थ —एक मात्र शुद्ध आतमभाव रस के भोग से युक्त, और दूसरी परवस्तुओं के भोग को त्याग देने से निर्विकल्प, अखिल ससार के समस्त भावों और आत्मभाव को पूर्णरूप से जानने वाला आत्मयोग जिसके प्रकट हो गया है, ऐसा योगी अपने स्वरूप मे विलास करता है । अर्थात् स्वरूप को भोगता है ।

मइयाइया नाणा सवियप्पा भिन्ननेय विन्नाणा ।
पत्ते केवलनाणे एगमि सव्व विन्नायी ॥८॥

अर्थ —आत्मा ही श्रेष्ठ अर्थ है । और आत्मा तथा ज्ञान गुणी गुण भाव से होने पर भी स्थान परिणाम से एक ही पदार्थ है । अत ज्ञान भी एक ही पदार्थ है । यही परमार्थ है, साक्षात् मोक्ष का उपाय है । ज्ञान के जो मतिश्रुतादि भेद है, वे भी क्षायोपशमिक समय मे ही भिन्न प्रवृत्ति वाले है, परन्तु क्षायिक अवस्था में निर्मल केवलज्ञान का प्रादुर्भाव होने पर उसी के अनतर्गत हो जाते है । साराश यह है कि मतिज्ञानादि के रूप मे वही ज्ञान क्षायोपशमिक होने से अशत प्रकट होता है, और केवलज्ञान

का प्रादुर्भाव ज्ञानावरणीय के पूर्णतः क्षय होने पर होता है । अतः पूर्ण ज्ञान क्षायिक अवस्था मे होता है । निम्न उदाहरण से इसे स्पष्ट समझने मे सुगमता होगी–

जैसे गहरे बादलों से ढके हुये सूर्य का प्रकाश उन मेघों के विघटन के अनुसार कम या अधिक अवश्य हो जाता है; पर सर्वथा प्रकाश स्वभाव को बादल नष्ट नहीं कर सकते । वैसे ही आत्मा के ज्ञानावरणादि कर्मपटल का विघटन होने पर उसी के अनुसार ज्ञान शक्ति का प्रादुर्भाव होता है । कर्म आवरण के हटने पर कर्म ज्ञान और अधिक आवरण के दूर होने पर अधिक ज्ञान प्रकट होता है; किन्तु आवरण से ज्ञान सर्वथा नष्ट नहीं होता । मात्र प्रकाश मे कमी बेशी होती है । ज्ञान के भेदों के होने से ज्ञान–स्वभाव का भेद नहीं हो जाता; प्रत्युत वे भेद ज्ञान की विशेषता ही प्रकट करते हैं । अतः समस्त भेदों को हटाकर आत्म–स्वभावभूत एक मात्र ज्ञान का आलम्बन लेकर उसी आलबन से स्वपद की प्राप्ति होती है; भ्रान्ति नष्ट होती है । आत्मलाभ होता है, अनात्मभाव का परिहार होता है । कर्म आत्मा को मोहित नहीं करता, रागद्वेष मोहादि दोष उत्पन्न नहीं होते, न कर्म का आश्रव पुनः होता है, और न कर्म आत्मा को बाधित करता है । पूर्व मे बँधे हुए कर्म भोग कर या प्रदेश तथा विपाक से निर्जीर्ण हो जाते हैं और सम्पूर्ण कर्मो का क्षय हो जाने से आत्मा मुक्त हो जाता है । पुनः ज्ञान का महत्व बतलाते हैं—

नाण विहीणा न लहंति, संवरनिज्जरपयं जिणंदुत्तं ।
तं गिण्हह भो भव्वा जइ इच्छह सिद्धिसब्भावं ॥९॥

व्याख्याः—ज्ञान यथार्थ तत्वाववोध रूप है । उस ज्ञान से विहीन जन इस स्वात्माववोध लक्षण सवर निर्जरापद को जो जिनेन्द्र भगवान द्वारा कथित है, नहीं प्राप्त कर सकते । अतः हे भव्यजीवो ! यदि सिद्धि का सद्भाव चाहते हो तो उस सवर निर्जरात्मक आत्मज्ञान को ग्रहण करिये । क्योंकि जब तक आत्म–प्रदेश पर ज्ञान को आवृत (ढकने) करने वाले

ज्ञानावरणीयादि कर्मों का आवरण आया हुआ है तव तक स्व पर को नहीं जान सकता । वह आवरण ज्ञानरुचि से हटता है । आवरण के अभाव होने पर शुद्धज्ञान से ही स्वरूप का प्रकाशन होने से स्वरूप की उपलब्धि होती है । बहुत से साधक बहुत प्रयत्न करके भी ज्ञानशून्य होने से स्वरूप को प्राप्त नहीं कर पाते । फलस्वरूप कर्मों से भी मुक्त नहीं हो सकते ।

अत मोक्षार्थी प्राणी को सर्वज्ञ भगवान् के वचनों का अवष्टम्भ (सहारा) लेकर ही आत्म-स्वरूप की उपलब्धि करनी चाहिये । इस अवष्टम्भ अर्थात् सर्वज्ञोक्त ज्ञान के विना आत्म स्वरूप का ज्ञान नहीं हो सकता ।

पदमिद परतो हि दुरासद,
सहज तत्वविदा सुलभ स्मृतम् ।
भवतु भव्यजना। निजवोधभृत्,
भवति येन महोदय मुत्तमम् ॥७॥

अर्थ—यह आत्मस्वरूप का ज्ञान तत्वज्ञान के बिना अथवा सर्वज्ञ के अतिरिक्त अन्य के वचनों से प्राप्त होना दुर्लभ है । सहजतत्वज्ञानियों को सुलभ माना गया है । अत भव्यजनों । आप आत्मज्ञानी वनो, जिससे उत्तम और महान् उदय हो अर्थात् मुक्ति की प्राप्ति हो ।

आयमि रओ णिच्च सतुट्ठो होउ आयभावमि ।
णिय धम्मि त्तित्तस्स उ भवदि इह णिय मुत्तम सुक्ख ॥१०॥

व्याख्या-आत्मज्ञानी होने पर अर्थात् शुद्ध अनेकान्त अनन्तगुणपर्याय परिणाम स्वभाव आत्मा के ज्ञानानन्दरूप का निश्चय करके चिदानन्द मे ही सदा रत रहो, उसी मे सन्तुष्ट रहो । आत्मधर्म के अनुभव मे तृप्त बनो, इस प्रकार आत्मरत, आत्मसन्तुष्ट व अनुभवतृप्त आत्मा को वचनातीत सुख होगा और तव इस आत्मतत्व को स्वय ही देखोगे, और ... । ऐसा होने पर सर्व परभाव प्रसङ्ग को वाह्य और आभ्यन्तर दोनों

रूप से हटा कर परम आर्य-सर्वज्ञभाषित रत्नत्रयी-सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र रूप मार्ग मे प्रवृत्ति होगी । यह आत्मज्ञान की महिमा है ।

अब ज्ञानी के पद का ग्रहण क्यों नहीं होता ? से समझते हैं; भावना करते हैः-

जह को वि हु सप्पुरिसो परदव्वं मामगं नवि कुणइ ।
तह सप्पुरिसो पारयं अगिण्हमाणो न बंधइ ॥१॥

व्याख्याः—जैसे कोई सत्पुरुष परनिश्रित परद्रव्य-धनादि परवस्तु मे यह मेरा है, ऐसी बुद्धि नहीं करता । वैसे ही सम्यग्ज्ञानादि गुण युक्त सत्पुरुष भी आत्मक्षेत्र के अवगाह से भिन्न अर्थात् 'ज्ञानादि जो आत्म क्षेत्र स्थित हैं, उनसे भिन्न सभी अग्राह्य है,' ऐसा जानता हुआ कर्मबन्ध नहीं करता । विपाक के उदय को भोगता हुआ भी उसमे अव्यापक रहता हुआ निर्जरा करता है, यह जानना चाहिये । क्योंकि ज्ञानी जानता है, कि जिसका जो स्वभाव है, वही उस स्वभाव का स्वामी है । अर्थात् सभी द्रव्य अपने-अपने स्वभाव के स्वामी हैं । इस प्रकार तत्व दृष्टि के सहारे या आलम्बन से आत्मा के स्वरूप को अपना धन जानता हुआ, केवल स्वरूपग्राही होता है । (परद्रव्य को) यह मेरा नहीं है, और 'न मै इसका स्वामी हूँ' ऐसा मान कर उसमे न रमता है, न ग्रहण करता है । यदि परद्रव्य-जो जड़ कर्म अजीव रूप हैं, उसे ग्रहण करूँ तो अवश्य अजीव मेरा 'स्व' बन जाय और मै अजीव का स्वामी बन जाऊँ । जीव का स्वामी जीव ही निश्चय से है । अजीव का स्वामी बन जाने से बलात् मेरे भी अजीवत्व न प्राप्त हो जाय । इस विचार से यही एक मात्र भावना करता है, कि मेरा तो केवल ज्ञायक स्वभाव ही अपना है । इसी का मै स्वामी हूँ-अन्य का नहीं । यह मेरा निश्चय है । यह अजीव जड़ पदार्थ दो टुकड़े हो जायँ, या टुकड़े टुकड़े हो जायँ, अथवा इन्हें कोई ले जायँ, व नष्ट हो जायँ, और जायँ तो जायँ, ऐसा हो जाने पर मेरी

कोई हानि नहीं । क्योंकि पर द्रव्य 'मेरा धन नहीं, न मै उनका स्वामी हूँ। परद्रव्य-जड अजीव का है, वही उसका स्वामी है । 'मैं आत्मा हूँ, ज्ञानादि धन मेरा है । मैं उसी का स्वामी हूँ' यह मैं जानता हूँ । इस प्रकार भेदज्ञान की दृष्टि से सर्व परभाव को दूर करके, सर्वथा आत्म रूप मे स्थिर रहता है ।

सामान्यत स्वपर के अविवेक का हेतु अज्ञान है । उसको छोड देने के मन वाले प्राणी को, पुन आत्मा को निर्मल करने के लिए कहते हैं -

समस्त परद्रव्यों को स्वक्षेत्र से अर्थात् आत्मप्रदेशों से लेकर परक्षेत्र मे स्थापन करने रूप सर्वथा त्याग करना तो अयोगिगुणस्थान के चरम समय तक होता है । इससे पूर्व तो उदय और सत्तागत पुद्गल स्कन्धों का आत्मक्षेत्र मे अवगाहित्व रहना दिखता ही है, तब समस्त परभाव का त्याग कैसे है ? और त्याग के अभाव मे स्वरूप की निष्पत्ति भी कैसे हो सकती है ? इसका समाधान यों है —

कर्म आत्मा के एक क्षेत्र मे रहे हुये होने से आत्म प्रदेशों मे स्थित हैं । वे आश्रव के हेतु नही है । किन्तु जो उदय मे आये हुए विपाक मे तथा इन्द्रियगृहीत वर्णादि मे विपर्यास होने से असयम द्वारा इष्ट या अनिष्ट रूप से व्यापक होने पर अभिनव बन्ध होता है, वह साधनोद्यत के अव्यापक रूप से होता हैं । अर्थात् साधक उनके उदय या विपाक मे अव्याप्त रहता है । इष्टानिष्ट बुद्धि नहीं करता, अत साधक के वे निमित्तभूत परभाव, आश्रव के लिये नहीं होते । और इसी कारण से सम्यग्दर्शनादि गुण परिणत आत्माओं के जितने काल तक निर्जरा होती है, यदि आत्मा से सम्बद्ध पुद्गलमात्र ही बाधक हो जाते हैं, तो मुनियों के शरीर आहारादि काल मे चारित्र का अभाव ही होने का प्रसग हो जायगा । तथा सिद्धों के एक क्षेत्रावगाह पुद्गलस्कन्धों का सद्भाव होने पर भी ग्राहक रूप से अव्यापकता रहती है । अत जहाँ भोक्तृत्व है वहाँ आश्रवता है । और इसीलिए कहते हैं —

अपरिग्गहो अणिच्छो भणियो आन्नाणीण इच्छाइ ।

अहम्मं तेणण गहो अहम्मस्स सुद्धप्पा णायगो होइ ॥१२॥

व्याख्यः—इच्छा ही परिग्रह है, जिके परिग्रह नहीं, उसके इच्छा नहीं । इच्छा अज्ञानमय भाव तो ज्ञानी के हो नहीं सकता । ज्ञानी के ज्ञानमय भाव ही हैं; अतः ज्ञानी अज्ञानमय भाव मे रमण नहीं करता । इससे ज्ञानी के अधर्म का परिग्रह नहीं होता । अधर्म शब्द से आत्मसत्तागत धर्म से अन्य सभी आत्मापेक्षा से अधर्म ही है । इस कारण परवस्तु की इच्छा से रहित साधक आत्मा, तत्वश्रद्धान–सम्यक्त्व, तत्वभासन–सम्यग्ज्ञान, तत्वरमण–सम्यक्चारित्र मे परिणंत, अभिसन्धिज भाव से अधर्म के ग्राहक नहीं होते । उनके मात्र शुद्ध स्वभाव का तादात्म्यभाव है । अधर्म का तो केवल ज्ञायक मात्र भाव है । स्वधर्म का ज्ञायक भी है और भोक्ता भी है । यह सारांश है ।

इसी प्रकार रागद्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ मन–वचन–कायादि का तथा धर्मास्तिकायादि परद्रव्यों का और अशनपानादि पुद्गलस्कन्धों का ज्ञायक ही है, ग्राहक नहीं । अतः पूर्णतत्वज्ञ के उदय मे आये हुये स्वक्षेत्रगत पुद्गलस्कन्धों के अयोग्य रूप होने से निर्जरा ही होती है, अभिनव बन्ध नहीं होता । इस प्रकार तत्वरसिकजनों के अत्यन्त निष्परिग्रहत्व सिद्ध है । तत्वज्ञानी इस रीति से सम्पूर्ण भवान्तर परिग्रहशून्य होने से और अज्ञान का पूर्णरूप से वमन हो जाने से और सर्वत्र पूर्ण निरालम्ब होकर प्रतिनियत टंकोत्कीर्ण एकमात्र ज्ञायक स्वभाव होता हुआ साक्षात् इस विज्ञान घनमय आत्मा का अनुभव करता है ।

"ज्ञानमग्न निजतत्वविलीनः, पूर्वबद्धनिज कर्मविपाकान् ।
व्याप्तिभाव रहितः परिभुञ्जन्, निर्जरयति नहि नव्यबन्धकः ॥८॥

अर्थः—ज्ञान मग्न स्वात्मतत्व मे लीन आत्मा, पूर्व मे बाँधे हुये अपने कर्मो के विपाक को व्याप्ति रहित भोगता हुआ उन कर्मो की निर्जरा करता है । नवीन कर्मो का बन्धक नही बनता ।

त्यागबुद्धि से भोगते हुये भी आकांक्षा के अभाव में बन्ध नहीं होता । इसे स्पष्टता से समझाते है –

उप्पन्नोदय भोगो वियोगवुद्धीए तस्स सो णिच्च ।
निक्कखस्स भगवओ, न हेउभावत्तण लहइ ॥१३॥

व्याख्या —उदयप्राप्त कर्मो का विपाक नित्य त्यागबुद्धि से भोगते हुये, समस्त परभावो की आकाक्षा नहीं रखने वाले पूज्य सर्वज्ञ ज्ञानी भगवान् के वे उदयप्राप्त कर्म विपाक हेतुभाव नही बनते । अर्थात् वन्धहेतु नहीं बनते, अत अभिनवबन्ध नहीं होता ।

कर्मोदय का उपभोग तीन प्रकार के कर्मो का होता है–अतीत, प्रत्युत्पन्न और अनागत । उसमे अतीत तो अतीत होने से वह परिग्रह भाव नहीं रखता । और अनागत मे तो उसमे आकाक्षा करते हुये जन के ही परिग्रह भाव से होता है । वे सर्वज्ञ तो पुरुषोत्तम है, वे अनागत की आकाक्षा नहीं करते, इससे वन्धक भी नहीं बनते । तथा प्रत्युत्पन्न कर्मोदय का विपाक है, वह रागबुद्धि से प्रवर्त्तमान जीव के ही वन्ध का कारण है । ज्ञानी के प्रत्युत्पन्न कर्म का विपाक या उपभोग रागादि मे प्रवर्त्तमान न होने से वन्ध का हेतु नहीं होता । ज्ञानी के जो ज्ञानमय भाव वाला है, रागबुद्धि का अभाव होने से वह केवल विराग बुद्धि मे प्रवृत्त रहता है, अत वह बन्धक नहीं और प्रत्युत्पन्न कर्मोदय का उपभोग ज्ञानी के इसी कारण परिग्रह नहीं होता । अनागत कर्मोदय का उपभोग तो सकलज्ञानी के अनाकाक्षित ही है । ज्ञानमय भाव वाले ज्ञानी के आकाक्षा का अभाव होता है, अत अनागत कर्मोदय के उपभोग का परिग्रह ज्ञानी के नहीं हो सकता । क्योकि ज्ञानी के निश्चय से स्वभाव का टकोत्कीर्णमात्र ज्ञायक भाव सदा रहता है, तथा जो वेद्य वेदकभाव है, वे दोनों विभाव भावों के अनुत्पादक और प्रध्वसक होने से क्षपक हो जाते है । उनमे जो भाव काक्ष्यमाण वेद्य–भाव को वेदने वाला है, वह जब तक उत्पन्न हो तब तक तो काक्षमाण वेद्यभाव का विनाश हो जाता है ।

उसके नष्ट होने पर वेदक भाव क्या वेदे ? यदि काङ्क्ष्यमाण वेद्यभाव पीछे होने वाले अन्यभाव को वेदता है; तो उसके होने से पूर्व ही वह विनष्ट हो जाता है; तब उसे कौन वेदता है ? यदि वेदकभाव पीछे होने वाले भाव को जो रखा हुआ है, उसे वेदता है, तो उसके होने से पूर्व वह नष्ट हो जाता है; तब वह किसे वेदता है ? इस प्रकार काङ्क्ष्यमाण भाववेदना की आवश्यकता जानता हुआ ज्ञानी किञ्चित् भी आकाक्षा नहीं करता ।

वेद्य वेदक विधिः क्षणक्षयी, विद्यते न खलु केन कदाचित् ।
तेन नेच्छति परस्य हि भोक्तृतां भिन्नता भजति धीरः सुधीमान् ॥९॥

अर्थः—वेद्य वेदकविधि क्षणमात्र मे ही क्षय हो जाती है । निश्चय से किसी प्रकार भी वह ठहरता नहीं है; अतः धीर बुद्धिमान् साधक पर वस्तु की भोक्तृता की इच्छा नहीं करता और इससे भिन्नता का भाव रखता है ।

यहाँ वास्तव मे यह समझने योग्य है, कि उदय मे आये हुये को वेदने मे तो असख्यातः समय लगते हैं; और प्रति समय वेदभाव की नव्यता रहती है, तब कैसे उसका भोग हो सकता है । अतः मुनि प्रायः उदय मे अव्यापक ही रहता है । इस अवस्था मे जिन अध्यवसायों का उदय होता है, उनमे से कौन से संसार विषयक व कौन से शरीर विषयक है, उनमे जितने ससार विषयक हैं, वे बन्ध के निमित्त हैं । जितने शरीर विषयक हैं, वे उपभोगनिमित्त हैं । संसार विषयक अध्यवसायों मे रागद्वेषमोहादि का भाव है; अतः वे बन्ध के निमित्त हैं । शरीर विषयक सुखदुःखादि हैं वे उपभोगनिमित्त हैं । उनमे ज्ञानी का राग नहीं है; क्योंकि ज्ञानी उन्हे पर स्वभाव–जड़ स्वभाव जानता है । टकोत्कीर्ण एकमात्र ज्ञायक भाव रूप स्वभाव वाले ज्ञानी के परभाव का प्रतिषेध है । अतः शरीर विषयक आहारादि का भोग बन्ध का निमित्त नही बनता । जैसे–पाश रहित वस्त्र को अनेक मञ्जिष्ठादि रगों मे चिरकाल रहने पर

भी वर्णान्तरता नही होती । वैसे ही ज्ञानी परभाव मे व्यापकत्व होने पर भी रागादि रहित होता है । विपाकवश उदय मे आये हुये को भोगता हुआ भी वन्ध नहीं करता, प्रत्युत निर्जरा ही करता है । ऐसा जानना चाहिए ।

विपाक का उदय बन्ध का हेतु नहीं है । विपाक का उदय होने पर भी जिनेश्वर देवों-सर्वज्ञों के अवन्धता प्रसिद्ध ही है । रागी द्वेषी ही कर्म बाँधता है, अत जो आत्मतत्वालम्वी आत्मा मे उपयोग रखने वाला ज्ञानी है वह बँधता नही, किन्तु मुक्त होता जाता है । यही कहते हैं –

णाणी कसायरहियो सव्वे पुव्वोदये अ भुजतो ।
णो लिप्पइ कम्मरयो अन्नाणी तम्मओ अ लिप्पेइ ॥१४॥

व्याख्या —जैसे स्वर्ण कीचड मे रहा हुआ भी कीचड से लिप्त नहीं होता । क्योंकि उसका स्वभाव लिप्त होने का नही है । वैसे ही ज्ञानी जो चारित्रयुक्त है, विपाक प्राप्त कर्मोदय मे रहा हुआ भी अव्यापक होने से कर्मों से लिप्त नहीं होता । क्योंकि उसके परद्रव्य पर राग के त्याग का स्वभाव होने पर अलेप स्वभाव होता है । जैसे सोने के काट नहीं लगता, वैसे ही ज्ञानी आत्मा के बन्ध नहीं होता । अज्ञानी परभाव का स्वामित्व मानता है और कर्म को बाँधता है । जैसे लोह कीचड मे पडा रहे तो उसके काट लग जाता है, क्योंकि काट लगना लोह का स्वभाव है । अज्ञानी सर्व परद्रव्य के प्रति रागद्वेष की भावना रखता हुआ रागद्वेष के उपादानशील स्वभाव वाला है, अत वह कर्म से लिप्त होता ही है ।

यही कहते है –

पर परिणति रागाद् बध्यते नव्यलेपै,
परपरिणतित्यागा–न्नैव बन्धत्वमेति ।
न खलु न खलु ग्राह्य भिन्न द्रव्य स्वरूप,
यदिह नहि स्वकीय त न गृह्णाति दक्ष ॥१०॥

अर्थः–आत्मा परपरिणति के राग से नये कर्मलेप से लिप्त होता है और परपरिणति के त्याग से बन्धत्व को प्राप्त नहीं होता । अतः निश्चय से परद्रव्य जो आत्मा से भिन्न स्वरूप वाले हैं; वे किसी भी प्रकार से ग्राह्य नहीं हो सकते । क्योंकि बुद्धिमान् व्यक्ति 'जो अपना नहीं है' उसे नहीं लेते । यह ससार मे भी व्यवहार से एव नीति से प्रसिद्ध है ।

यह प्रतिज्ञा या भावना सम्यग् रत्नत्रयीपरिणत जीव के ही ठहरती है । वह परभावो को धारण करता हुआ भी उनका कर्त्ता और भोक्ता नहीं है । उस परिणति से भिन्न ही है ।

निस्संको निक्कखो निव्वितिगिच्छो अमूढदिट्ठी अ ।
उववूहो थिरभावो वच्छल्ल पभावण जुत्तो ॥१५॥
सपर विवेगीणाणी नियभावे जो रओ धीरो ।
सो सव्वं कम्मं उदयगयं निज्जरइ भिन्नो ॥१६॥
जो रमइ सो बंधइ, नो रमइ तस्स बंधणं नत्थि ।
तम्हा पुव्वोदिन्ने, न रमंतो निज्जरं कुणइ ॥१७॥

व्याख्याः—यहाँ जो साधक–साधु है; वे समस्त कर्मो से निरभिलाष–अनिच्छुक होते हुये कर्म से अत्यन्त निरपेक्षतया वर्त्तते हैं । इस कारण वे कर्मोदय मे अतिशय निर्भय माने जाते हैं । वे समझते हैं कि ये विपाक मेरे स्वधर्म के छेदक नहीं; किन्तु आवारकमात्र हैं और वे भी स्वल्पकालःवस्थायी है । अतः उसके विपाक मे शंका कैसी ? क्षय का अवसर आने पर स्वतः क्षय हो जाते हैं । क्षय का अवसर आने पर ही वे विपाकी बनते है, इसमे कैसा भय ? और कैसी दीनता ? "मै तो शुद्ध ज्ञानादि अनन्त आनन्दमय हू ।" इस प्रकार मुनि सर्वभय से विप्रमुक्त निःशंक विचरता है ।

अर्थः–(इहलोकादि सभी भय है । उनमे से यदि कोई जो पूर्व मे बाँधे हुये है; वे उदय मे क्षय होने के लिए ही आ रहे है, तो बुद्धिमान

जनो को क्या भय करना चाहिये ? परभाव का क्षरण करने के लिए विपाक का उदय होता है, इसमे कौन समभावान्वित, चेतना परिणति वाला आतुर बने । वह तो शुद्धात्म भाव का सेवन करे । क्योंकि सम्यग्दृष्टि टकोत्कीर्ण ज्ञायकसम्यक्त्वी होने से कर्मवन्ध की शका कराने वाले मिथ्यात्वादि भावो के अभाव में नि शक रहता है, अत उसके शकाकृत वन्ध नही, किन्तु निर्जरा ही है ।

सम्यग्दृष्टि के आकाक्षाकृत वन्ध भी नहीं होता, क्योकि वह टकोत्कीर्ण ज्ञायक स्वभावमय होने से सभी कर्मफलों और सभी वस्तुधर्मो मे निराकाक्षी है । अत काक्षा के अभाव मे वन्ध न होकर निर्जरा ही होता है ।

उसके विचिकित्साकृत कर्मवन्ध भी नही है, क्योकि सम्यग्दृष्टि ज्ञानचारित्रमय टकोत्कीर्ण ज्ञाता स्वभावमय होने से सभी द्रव्य जो स्व स्वभाव परिणत और पर है, और जिन्हें हेयरूप से विभक्त कर दिया है तथा स्व, आत्मभावों मे जो स्वतया उपादेय कर लिये गये है, उन मे जुगुप्सा का अभाव होने से वे निर्विचिकित्स है । इस कारण उसके भी वन्ध नहीं, निर्जरा ही है । तथा अशुभभावों मे भी हेयत्व रूप से तद्धर्म व तत्स्वरूपतया, धारण किये जाने पर उनमे कौनसी काक्षा अथवा दुगछा है । क्योकि काक्षा रागोद्भवा और दुगछा द्वेषोद्भवा होती है । राग और द्वेष दोनों ही अकार्य हैं, अत दोनों के अभाव मे उस प्रकार को इष्ट या अनिष्ट विपाकों के भोग मे भी निर्जरा ही होती है तथा यथार्थ ज्ञानादि परिणाम से किन्हीं भावों मे मूढ़ता नहीं होती, अत मूढदृष्टि से किया जाने वाला वन्ध भी सम्यग्दृष्टि के नहीं होता । वाग्योग का आस्रवत्व होने पर भी सम्यग्ज्ञान कारणता रूप मे प्रवर्तने वाले के वन्ध नहीं होता, क्योंकि सम्यग्ज्ञान चारित्रयुक्त, निरावाध, ज्ञायक भावना वाला, भावरूप से समस्त आत्मशक्तियों को साधनरूप से अथवा स्वकार्य रूप से प्रवृत्त करता हुआ, तथा आविर्भूत शक्तियों को परभावों मे प्रयुक्त नहीं करता हुआ जो आत्मा है, उसके स्वशक्ति की दुर्वलता के अभाव में अन्यथा प्रवृत्ति नहीं होती, अत तत्कृतवन्ध न होकर प्रत्युत् निर्जरा ही होती है ।

सम्यग् रत्नत्रयीयुक्त आत्मा साध्य साधन की एकता वाला है स्व अथवा अन्य के मार्गच्युत होने का प्रसग उपस्थित होने पर मार्ग पर ही स्थिति करता कराता है । अतः स्थिरीभूत 'आत्मस्भाव वाला होने से मार्गच्युति से होने वाला बन्ध भी नही होता, क्योंकि मोक्षमार्ग का साधक आत्मा सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र को जो स्व से अभेदबुद्धि से स्थित हैं उन्हें स्वगुणों मे स्थिर करता है ।

स्वगुणों का पोषण करने से वात्सल्यगुणधारक होता है । इस गुण के धारक के अन्य साधकजनों के स्वोपदेशादि द्वारा क्षुधादि विघ्नों को दूर करने और पोषण करने से अवात्सल्यरूप अतिचार से होने वाला कर्मबन्ध नहीं होता । द्रव्यवात्सल्य भी भाववात्सल्य का कारण ही है; अतः उसे भी वात्सल्य ही कहना चाहिये । जो विभाव के कारण हैं, वे द्रव्य निक्षेप वाले के भी नहीं होते, लोक मे जो भाव के कारण हैं; वे सचेतन या अचेतन द्रव्य, तत्वज्ञों के द्वारा कहे गये हैं । ऐसा आगम वाक्य है । तथा संसार मे भी द्रव्य, भाव का कारण माना जाता है । श्री आचारांग सूत्र व टीका मे भी यही कहा गया है :-

"जे गुणे से मूलट्ठाणे" (लोकविजयाध्यने, १ उद्देश)

यह कहा गया है कि सम्यग्दर्शनादि वालों के द्वारा की गई क्रिया सिद्धिफल रूप गुण से फलवती है । अन्य दूसरी क्रियाएँ तो सासारिक फल मे अध्यारोप होने से निष्फल अर्थात् मुक्तिरूप फल देने वाली नहीं होती इत्यादि अनेक वाक्यों से जान लेना चाहिये । फिर क्योंकि सम्यग् रत्नत्रयी परिणत आत्मा स्वशक्ति के जागरण से अर्थात् ज्ञानादि को निरावरण कर लेने से अन्य भव्य जीवों के स्वभाव को प्रकाशित करने मे कारणरूप है; अतः शासन-प्रभावक है, और प्रभावक होने से यह भी कर्मबन्ध नहीं करता । उसके भी निर्जरा ही होती है । इस प्रकार दर्शन के आठ आचारों का पालन करने वाले के निर्जरा ही होती है, बन्ध नही होता ।

दोष त्यागात् शुचि निजगुणै र्नाटयन् स्वस्वरूप,
निश्शकाद्यै र्वसननिचयै र्भूषयन् स्वात्मशक्तीन् ।
सम्यग्दृष्टि निर्जररसोत्कर्षतस्तत्वलीनो,
बन्ध त्यक्त्वा किरति दलिकान् तस्य वै निर्जरैव ॥१२॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टि आत्मा, निर्जररस–ज्ञानादि अथवा शान्तरस के उत्कर्ष से तत्व में लीन हो जाता है । शकादि या रागादि दोषों के त्याग से निज गुणों के द्वारा स्वस्वरूप की रमण–क्रीडा कराता हुआ और नि शकत्वादि आठ आचार मय वस्त्रों स्वात्मशक्तियों को भूषित करता हुआ बन्ध को छोड कर पुद्गल दलिकों को बिखेर देता है, उसके निश्चय से निर्जरा ही होती है ।

॥ इति निर्जरा वर्णनस्वरूप षष्ठाधिकार ॥

अथ बन्ध निवारण सप्तमोऽधिकारः

(शार्दूल विक्रीडित वृत्तम्)

राग द्वेष महाभटेन सकल विश्व प्रमादीकृत,
शुद्धानन्दरस विहाय समल भाव विष प्रापितम् ।
तद् विच्छेदपर सुखोदयकर सद्भावना भावित,
स्याद्वादामृतपानपूर्णममल ज्ञान समुज्जृम्भते ॥

अर्थ—रागद्वेषरूप महायोद्धाओं के द्वारा यह सारा ससार प्रमत्त बना हुआ है और शुद्ध आत्मानन्द रस को छोडकर कर्ममलरूप भाव विषमय बना दिया गया है । उस विष को नष्ट करने वाला, सुख का उदय करने वाला, सद्भावनाओं से भावित, स्याद्वाद अमृतपान से भरा हुआ, निर्मल ज्ञान सम्यग् प्रकार से समुल्लसित हो रहा है, विलास कर रहा है ।

जहनाम को वि पुरिसो णेहब्भतो उ रेणु बहुलम्मि ।
ठाणम्मि वायामं कुव्वतोऽणेग चेट्ठाइं ॥१॥
सो रेणु जत्तो होही णेहेण य णेग चिट्ठकरणेहिं ।
एवं पुग्गल रेणु लिप्पइ जीवे सरागत्थे ॥२॥

व्याख्याः—यहाँ यह समझने योग्य है कि जैसे कोई तैलाभ्यगयुक्त पुरुष स्वभाव से ही रज की अधिकता वाली भूमि मे रहा हुआ, नाना प्रकार के व्यायाम या शस्त्राभ्यास का कार्य करता हुआ, अनेक प्रकार की चेष्टाओं, व्यायाम एव सचित्त अचित्तादि पदार्थो को अर्थात् चाँदमारी या लक्ष्यबेध करता हुआ धूल से सन जाता है । वैसे तैलाभ्यग रहित पुरुष के रज नहीं लगती, भले वह शस्त्राभ्यास या व्यायाम करे या न करे । रज चिपकने का कारण तैल है, वह नही लगा हुआ है, तो रज नहीं लगती । इस न्याय के बल से यह सिद्ध है कि रज लगने का हेतु तैलाभ्यंग है । इस प्रकार मिथ्यादृष्टि आत्मा परभाव मे रागादि करता हुआ, स्वभाव से ही कर्मयोग्य पुद्गल की अधिकता वाले इस जगत् मे कायिक, वाचिक और मानसिक कर्म करता हुआ, अनेक प्रकार के इन्द्रियादि साधनों द्वारा सचित्ताचित्त वस्तुओं का इष्ट अनिष्ट रूप से ग्रहण-त्यागादि करता हुआ, कर्म-रज से बँधता है । उसके कौन सा बन्धहेतु है ? स्वभाव से ही तो कर्म बँधते नहीं । यदि स्वभाव से वधते हों तो कर्मयोग्य पुद्गलों से भरे हुये लोक मे सिद्धों के भी जो लोक मे ही है, कर्मबन्ध का प्रसङ्ग उपस्थित हो जाता । और केवल योग ही मन, वचन, काय योग ही बन्ध के हेतु माने जायँ तो योग की विद्यमानता मे यथाख्यातचारित्र वाले क्षीणमोहादि गुणस्थानवर्ती जीवों के घातिकर्मो के वन्ध का सम्भव नहीं । साता का वध है, साम्परायिक वन्ध नही होता क्योंकि योगों के सद्भाव मे भी सयोगी केवली भगवान् के ईर्यापथिकी क्रिया से होने वाले साता वेदनीय का वन्ध है, साम्यरायिकी क्रिया से होने वाला बन्ध नही है । न सचित्त अचित्त वस्तु के ग्रहण त्याग मे वन्ध है ।

व्यापार मे तत्पर नहीं होऊँ, मुझे चेतना व वीर्यादि को मेरे स्वरूप का अनुगत करना चाहिये" ऐसा जानता, विचारता और करता हुआ ज्ञानी कर्मो से वद्ध नही होता । क्योकि मरता है, जीता है, सुखी होता है, दुखी होता है । ये सव कार्य जीव के अपने कर्मोदय से होते है । कर्म न हो तो वह मुक्त हो जाता है । मैने इसे मार दिया, जीवित कर दिया, सुखी कर दिया, दुखी कर दिया, ऐसा जानने-देखने वाला मिथ्यादृष्टि जानना चाहिए । मिथ्यादृष्टि के ही ये वन्ध के हेतु है, क्योकि वही अज्ञानवश इन कार्यो मे कर्तृत्वभाव रखता, समझता और करता है । यद्यपि जीव परभाव का कर्ता नही है, तथापि कर्मोदयवशात् परभावकरण में कर्तृत्वमति भी मिथ्याज्ञान है, और मिथ्या-ज्ञान से कर्म बँधते है । तथा परभावो मे रागद्वेष असयम आदि का परिणमन होने से वन्ध है । अत उसे निवारण करने के लिये कहते है—

जो नियदव्वत्थित मुत्तूण जे उ होंति अन्नाई ।
तेसि करणे गहणे भोगे रागेण दोसेण ॥५॥
वधइ अपावियप्पा, सरूवरामी न बधेइ ।
तम्हा रयणत्तयेनीये वट्ट तो सवरी खवइ ॥६॥

व्याख्या—वास्तव मे जो जीवद्रव्य स्व अस्तित्व परिणत ज्ञानादि स्वधर्मो को छोड कर अन्य परद्रव्य, परभाव परद्रव्यस्वभाव वर्णादि है, उनके कर्तृत्व भोक्तृत्व अथवा रागद्वेष से परिणत हुआ सविकल्प होने से कर्म बाँधता है । और जो जीव स्वरूपरमणशील है, परभाव का अनुगामी नहीं है, अपने रत्नत्रयरूप भाव मे रमणशील है, वह कर्म नहीं बाँधता । आत्म साधना मे वर्तमान सवरवान आत्मा तो क्षय करता या निर्जरा करता है ऐसा जानना चाहिये । जो अज्ञान से उत्पन्न रागद्वेषमय अध्यवसाय है, यही वन्धन का हेतु है, ऐसा निश्चय जानना चाहिये । इष्ट अनिष्ट दोनों ही वन्ध के हेतुओं का अवरोध हो जाने से उपर्युक्त सवरवान् के वन्ध नहीं होता । इस प्रकार हिसा का अध्यवसाय ही हिसा है । यह सिद्ध

हुआ । परजीवों के कर्म की विचित्रता से प्राणो का नाश कदाचित् हो या न हो, जिस व्यक्ति के 'मैं मारता हूं' इस अहकार रस से भरा हुआ हिंसा का अध्यवसाय है, वही वास्तव में बन्ध का हेतु है । जो हिसा का अध्यवसाय है, वही विषयाभिलाषा से रागरूप है और परशरीरादि घात युक्त होने से द्वेष रूप है । इस प्रकार सर्वत्र रागद्वेष की एक-समयता माननी चाहिए । विशेषावश्यक मे कहा है कि-"ननु जीवाकुले लोकेऽवश्यमेव जीवघातः सम्भाव्यते, जीवांश्च घ्नन् कथ हिसको न स्यात् ?" शका की गई है कि जीवों से भरे हुए लोक मे अवश्य ही जीवों के घात की सम्भावना है और जीवो को मारता हुआ हिंसक कैसे नहीं होता ? अतः कहते हैं :—

"न य घायउत्ति हिंसो नाघायंतो त्ति निच्छिय मयेऽहिंसो ।
न विरलजीवमहिंसो न य जीव घणंति तो हिंसो ॥१॥
अहणंतो वि हु हिंसो दुऽत्ताराओ मओ अहियरोव्व ।
बाडतो वि न हिसों सुद्धमणओ जहा वेज्जो ॥२॥

अर्थः—'मारने वाला है' इतने मात्र से कोई हिंसक नही हो जाता और नहीं मारने वाला अहिसक नहीं हो जाता, ऐसा निश्चय नय का मत है । किसी विरल जीव की भी हिंसा नहीं करता, इससे भी कोई अहिसक नहीं हो जाता । तथा बहुत जीवों की हिंसा करता है, इससे कोई हिंसक नही हो जाता । तव क्या राजादि का घातक अभीचिकुमार वह दुष्ट अध्यवसाय वाला होने से न मारता हुआ भी हिसक हैं ? उत्तर है कि हाँ वह हिसक है । रोगी को कष्ट देता हुआ वैद्य शुद्ध परिणाम वाला होने से हिंसक नही है, अतः मारता हुआ भी अहिसक हो सकता है और न मारता हुआ भी हिसक हो सकता है, यह कहा गया है ।

किस प्रकार का अहिसक यहाँ ग्रहण किया जाय ? यह बतलाते है-

पच समिओ तिगुत्तो नाणी अविहिसओ न विवरीओ।
हो उ व संपन्ना से मा वा जीवावरोहेणा ॥७॥

मत करो,) गर्हा—(उसके सामने ही बुराई करना गर्हा कहलाती है ।) वह न करो । अवमानना (योग्य सेवा सुश्रूषा आदि न करना ।) मत करो । अत हे देवानुप्रिय । आप अतिमुक्तकुमार श्रमण को खेद रहित होकर स्वीकृत करिये, खेद विना उसके सहायक बनो, खेदरहित होकर भक्तपान आदि से तथा विनय से वैयावृत्य-सेवा करो । अतिमुक्तकमार श्रमण अन्तकर अर्थात् जन्ममरण रूप ससार का अन्त करने वाला है । चरमशरीरी मोक्षगामी है । इसी भव में मोक्ष जाने वाला प्रकृतिभद्र है ।

यहाँ षट्काय का वध होने पर भी प्राणातिपात का आश्रव नहीं । इसी प्रकार मल्लिदेव (उन्नीसवे तीर्थंकर) के अधिकार मे, सुबुद्धि मन्त्री के प्रस्ताव मे और सुमङ्गल निर्ग्रन्थ के अधिकार मे भी हिसा होने पर भी हिसकत्व नही दिखता । ऐसे ही ज्ञातृधर्मकथा सूत्र मे धर्मरुचि निर्ग्रन्थ के अधिकार मे कडुवा तुवे का साग देने वाली की राजद्वार आदि में हीलना, कर्कश वचनादि से निन्दा, पैशुन्य, क्रोध आक्रोश आदि भी दृष्टिगोचर होते हैं, तथापि वहाँ पापस्थानकता नहीं । सुनक्षत्र व सर्वानुभूति साधुओं के अधिकार मे गोशालक पर आक्रोश करने पर पहले भगवान् महावीर के द्वारा उन्हें रोके जाने पर भी वैसा करने में आज्ञाभग नहीं माना गया । स्वाध्याय आदि ध्यान आदि मे मनोयोग वाग्योग काययोग का व्यापार होने पर भी, तत्प्रत्ययिक बन्ध न मानकर संवर कहा गया है, अत साधन कारण की प्रवृत्ति मे आश्रव प्रवृत्ति होने पर भी आश्रवता नहीं है । इस प्रकार देखना चाहिये । फिर आचारागादि सूत्रों मे सचित्त लवण पान, विषम स्थान मे विहार करने मे वल्लिलता आदि का अवलम्बन कहा ही है । इसी प्रकार अलीकादि के विषय मे भी समझ लेना चाहिये । ऐसे ही जो अज्ञान से जैसे अध्यवसाय हिसा मे किये जाते हैं, वैसे सत्य अदत्त ब्रम्हचर्य अपरिग्रह मे भी जो अध्यवसाय है, वे भी सब केवल पापबन्ध के हेतु है, जो शुभ अध्यवसाय ज्ञान से हिसा मे जैसे किये जाते है वैसे ही सत्यादि मे किये जाते है । वे सभी अध्यवसाय सवररूप है । और पुण्यबन्ध रूप है । वहाँ उनमे सवरादि मे जो इष्टता है, और आश्रव मे

जो अनिष्टता है, वह पुण्य–बन्ध की हेतु है । उन्हीं सवरादि मे स्वधर्मत्व के रूप मे एकरूपता और तन्मयता है । वह संवर की हेतु है और जो आश्रवादि परभावों मे परत्यागता की परिणति है, वही निर्जरा की हेतु है । यहाँ बाह्य वस्तुओं का समूह, बन्ध का हेतु नहीं; किन्तु बाह्य वस्तु मे ग्रहण व भोग की परिणति और फिर उसमे रागद्वेष की परिणति बन्ध की हेतु है । यह जानना चाहिये ।

वत्थुं पडुच्च तं पुण अज्जवसाण तु होई जीवाणं ।
नय वत्थुतो य बंधो अज्झवसाणेण बंधो ति ॥११॥

व्याख्याः—अध्यवसाय–परिणाम बन्ध के हेतु हैं, न कि बाह्य वस्तु । बाह्य वस्तु हमारे अध्यवसाय की हेतु है । ऐसा चरितार्थत्व है । तब क्यों बाह्य वस्तु का प्रतिषेध किया जाय ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुये कहते हैः–अध्यवसान का प्रतिषेध करने को ही बाह्यवस्तु का प्रतिषेध किया गया है । बाह्य वस्तु अध्यवसाय का कारण है । बाह्य वस्तु के बिना अध्यवसाय की उत्पत्ति नहीं होती । जैसे किसी पुरुष के दो पत्नियाँ हैं, एक पुत्रवती व एक वन्ध्या है । उसका दोनों पर ही द्वेष है । पुत्रवती आश्रयी–द्वेषवश वह व्यक्ति सकल्प समय मे ऐसा विचार करता है कि 'यह पुत्रवती दुःखी हो जाय, इसको मार दूं, इसके पुत्र को भी मार दूँ' (क्योंकि भोग मे बाधा पड़ती है) इस प्रकार के अध्यवसाय होते हैं । वन्ध्या के प्रति भी द्वेषवश तो इतना ही कि 'इस वन्ध्या को मार दू' (वन्ध्या है, सन्तान नहीं देगी व्यर्थ है) ऐसा अध्यवसाय उत्पन्न होता है । इस उदाहरण से सिद्ध होता है, कि अध्यवसाय निराश्रय नहीं होते । और इसी कारण बुद्धिमान् राज्यादि ऋद्धि, धन, स्वजनादि को जो बहुतर व बहुलता से अध्यवसायों के कालुष्य के हेतु हैं, परित्याग करते है । वे अध्यवसायों की अशुद्धता हटाने के लिये उन हेतुभूत बाह्य वस्तुओं के परित्याग को श्रेयस्कर मानकर ही ऐसा करते है । इससे यह सिद्ध है कि अध्यवसाय निराश्रय नही होते और इसीलिए अध्यवसायों की आश्रयभूत

वाह्य वस्तुओं का अत्यन्त प्रतिषेध किया गया है । हेतु प्रतिषेध से हेतुमान् का भी प्रतिषेध हो जाने से अशुद्ध अध्यवसायों के अभाव मे, बाह्य वस्तु बन्ध की हेतु नहीं रहती । जैसे ईर्यापथिकी क्रियावाले केवलि भगवान् के पाँवों से व्यापाद्यमान कालप्रेरित वेग से आपतित जीवों की हिसा से, कुलिगादिवत् साम्परायिक बन्ध भगवती आदि सूत्रों मे नहीं कहा गया । न समयसार आदि मे ऐसा माना गया है । अत जानना चाहिये कि ऐसे रागद्वेषमय अध्यवसाय इस प्रकार से बन्ध के हेतु है, दूसरे भाव नहीं । बाह्य वस्तु के सद्भाव को बन्ध हेतुरूप से अगीकार करने पर तो वीतरागादि के भी बन्ध के सद्भाव की भी प्राप्ति हो जायगी और इनके ऐसा दिखता नही । अत भाव अध्यवसाय की अशुद्धता ही बन्ध की हेतु है, यह स्थित हुआ ।

सव्वे करेइ जीवो अज्झवसाणे तिरिअ नेरइए ।
देव मणुए अ सव्वे पुण्ण पाव च मोक्खो अ ॥१२॥

व्याख्या —जैसे यही आत्मा जब हिसा के अध्यवसायों से नारकत्व, माया-कपट बहुल अध्यवसायों से तिर्यगत्व, दानादि रुचि वाले अध्यवसायों से मनुजत्व, और तप कष्ट, प्रभु भक्ति आदि के अध्यवसायों से देवत्व प्राप्त करता है । प्रशस्त तथा शुभरागादि अध्यवसायों से पुण्य तथा अरति शोक आदि अशुभ अध्यवसायों से पाप करता है और जब वही आत्मा सर्व परभावों से विरक्त होता है, तो सम्यग्दर्शनी रत्नत्रयी के परिणामों से सवर करता है । सवर की एकता से निर्जरा, और सवर निर्जरा से मोक्ष प्राप्त करता है ।

यहाँ स्पष्टता से समझाते है –कि कोई व्यक्ति हिसादि का कर्त्ता मै हूँ । 'मै करता हूँ' यह ज्ञान, यह निर्धारण, मिथ्यादर्शन है । उसमे एकत्व रूप से रमण असयम है । इस प्रकार की अशुद्ध परिणति से बन्ध आदि का कर्ता बनता है । वही आत्मा जब भेदज्ञान से विभक्त, वस्तुस्वभाव ता। 'यह मेरा कार्य नहीं' मै पापस्थानादि का कर्ता नहीं हूँ । मै तो

'स्व-स्वभावों का, जो मुझसे सदा अविच्छिन्न हैं' का कर्त्ता हूँ, वह शुभाशुभ अध्यवसायो को आत्मा से भिन्न मानता हुआ, अपने मे अनादि परभाव की सकरता (मिलावट) को दूर करने के लिये भेदरूप सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र के परिणामो को साधता हुआ, क्षायिक भावयुक्त, बाधक साधक भावों से भिन्न, अनादि निधन स्वरूप पूर्ण, अकृत आनन्द को ही आत्मस्वरूप जानता हुआ, शुद्ध आत्म परिणाम को, उत्सर्गशक्तिमयत्व को, भोगता हुआ रहता है । इससे यह फलित है कि पहले बाधक-परिणामों का त्याग करने को साधक-परिणामो का ग्रहण करता है । कार्य सिद्धि हो जाने पर साधक-परिणामों का भी त्याग ही करना युक्त है । अतः परिग्रह आहारादि का त्याग करने मे अशुद्ध राग की हानि होने पर अभिनव कर्म का ग्रहण नहीं होता । यह जानना चाहिये । पर वस्तुओं का सग मात्र बन्ध का हेतु नहीं; कषाय की व्याप्ति बन्ध की हेतु है, तथा कषायवृद्धि मे परवस्तु कारण है । इसी कारण परवस्तु का त्याग बतलाया है । कहा भी हैः-

"विश्वाद्विभक्तोऽपि हि यत्प्रभावादात्मानमात्मा विदधाति विश्वम् ।
मोहैककन्दोऽध्यवसाय एष, नास्तीह येषा यतयस्त एव" ॥३॥

अर्थः—संसार से पृथक्-अपने आपको त्यागी मानने वाला आत्मा जिसके प्रभाव से अपने को संसारी ही बना लेता है, वह मात्रमोहमय अध्यवसाय ही है । जिनके इस संसार मे रहते हुये भी ये मोहरूप अध्यवसाय नहीं है, वे ही वास्तव मे साधु-मुनि है ।

सुभासुभ अज्झवसाणं न य सो नेव बंध भवइ ।
नियभाव एगयाए निम्मलो हवइ सुद्धप्पा ॥१३॥

व्याख्याः—जिनके ये शुभाशुभ अध्यवसाय नहीं होते, वे मुनि कर्मरज से लिप्त नहीं होते । जिनके ये बन्धहेतुभूत अध्यवसाय नहीं होते वे ही मुनिकुजर-मुनियों मे ऐरावण गजवत् है । अर्थात् मुनि श्रेष्ठ हैं । और जो कितने ही सद् हेतुओं को जानने वाले, एक क्रिया को व एक

ज्ञायक भाव को धारण करने वाले है, वे सर्व परभावों से आत्मा को रहित देखते हुये, तथा वैसा ही आचरण करते हुए, स्वछन्दता का दमन करते हुये अमन्द अन्तर्ज्योति से अज्ञान रूप अन्धकार के अभाव से शुभ या अशुभ कर्म से कभी लिप्त नहीं होते । इससे यह सिद्ध होता है कि यह आत्मा जब अपने शुद्ध स्वरूप को व उत्सर्ग आत्मस्वभाव को स्वत्व से जान लेता है, तब परभावानुगत रूप व अशुद्ध व्यवहार को छोड देता है और स्वकार्य साधनो मे कारण रूप शुद्ध व्यवहार को ग्रहण करता है। तथा पूर्वबद्ध ज्ञानावरणादि कर्मदलिकों की निर्जरा करता है । उन कर्मो की निर्जरा होने पर विशेष प्रकार से स्वशक्ति के विकसति हो जाने पर उत्सर्ग का अवलम्बन करके शुद्ध व्यवहारी होकर, शुद्ध निर्मल स्वरूप की एकता मे रमण करता हुआ, सब कर्मो का अभाव करके, सिद्ध बुद्ध, आत्यन्तिक आत्म सम्पत्ति का भोगी, सादि अनन्तकालपर्यन्त स्थित हो जाता है । अर्थात् सिद्ध रूप से अवस्थित हो जाता है ।

यदेव जीव परभावत्यागी, तदैव जीवो निजभाव भोगी ।
स्वभाव भोगे च स्थिरत्वलीन करोति सिद्धि विमला विशिष्टताम् ॥४॥

अर्थ —जीव परभाव का त्यागी होता है, तभी निज भाव का भोगी बनता है । स्वभाव का भोग होने पर स्थिरत्व मे लीन हो जाता है और विशिष्ट रूप से विमल सिद्धि को प्राप्त करता है ।

जाणइ तह रोएइ, करेइ तह फासई य सुअकहिय।
धम्म भोगणिमित्त, णतु सो कम्मक्खय कुणइ ॥१४॥

व्याख्या —मिथ्यादृष्टि स्व आत्मस्वरूप सुख को नहीं जानता हुआ, इन्द्रिय सुखों की अधिक लिप्सा से, श्रुतोक्त धर्म को वेदनज्ञान से जान भी लेता है, उसे रुचता भी है, और पुन पुन उन इन्द्रियजन्य सुखों को प्राप्त करने के लिये धर्म–ज्ञान–तप–सयमादि का आचरण भी करता है तथा धर्मसाधनों का अत्यन्त एकत्व रूप से स्पर्श भी कर लेता है, पर वह भोगनिमित्त व पुद्गल सुख निमित्त ही करता है । न कि कर्मक्षय

निमित्त । क्योंकि जो साधन–तप–संयमदानादि पौद्गलिक सुख के लिये किया जाता है; वह तो बन्ध के लिये ही होता है न कि मोक्ष के लिये ? कारण कार्य के विपर्यास से साध्य सिद्धि नहीं होती । न उसे वास्तविक धर्म स्वभाव की श्रद्धा होती है । न उसे विश्वास ही होता है, और न रुचता ही है । स्पर्शन मात्र से ऊपर के नवग्रैवेयक तक के भोगों को प्राप्त कर लेता है; परन्तु मुक्त कभी नहीं हो सकता । अतः उसके भूतार्थ धर्म श्रद्धान के अभाव से आत्म–स्वभाव का आविर्भाव करने के लिये व श्रद्धानादि करने के लिये साधकत्व नहीं है । श्रद्धानादि करने पर साध्य सिद्धि होती है । परभाव मे रहता हुआ जीव कर्मो से बँधता है । जो परभाव मे नहीं रमता, वह कर्मो से नहीं बँधता । रागादि आत्म स्वभाव नहीं है; किन्तु परनिमित्त से इनका उद्भव होता है; अतः पर– निमित्त का त्याग करना चाहिये ।

जह फलिहमणिसुद्धो ण सयं परिणमइ रायमाइहिं ।
न रंगिज्जइ अन्नेहिं सो रत्तादीहिं दव्वेहिं ॥१५॥
एवं नाणी सुद्धो ण सयं परिणमइ रायमाइहिं ।
रायज्जइ अन्नेहिं सो रागादिहिं दोसेहिं ॥१६॥

व्याख्याः—जैसे शुद्ध स्फटिक मणि जो स्वभाव से ही उज्ज्वल है, स्वयं रंगीन नहीं । क्योंकि निमित्त से ही वैसा हो सकता है, वह स्वयं तो शुद्ध श्वेत उज्ज्वल है; किंतु परद्रव्य–रंगीन वस्तु के संयोग से रंगीन दिखने लगता है । वैसे ही आत्मा भी अपने रागादि निमित्तभूत परद्रव्य से ही रागादि भावापन्न होता है । शुद्ध स्वभाव से प्रच्यवमान–हटती हुई चेतना ही कषायोदय हेतुभूत दलिकों का उदय होने पर जो रागादि से व्याप्यमान है, स्वय परिणत मात्रं होता है । वास्तव मे आत्मा परिणाम से शुद्ध स्वभाव होने पर भी, रागादि निमित्त से अशुद्ध स्वभाव वाला होकर शुद्ध स्वभास से च्युत होता हुआ ही रागादि रूप से परिणत होता है । स्वभाव दो तरह के हैं पारिणामिक और भावुक; पंचास्तिकायों मे से भावुकत्व जीवास्तिकाय मे ही है ।

इत्यात्मभाव विज्ञानी, ज्ञानी जानाति शुद्धताम् ।
रागादीन्नात्मन कुर्यान्नातो भवति कारक ॥५॥

इस प्रकार आत्म भाव को विशेष रूप से जानने वाला ज्ञानी आत्मा की शुद्धता को जानता है, और रागादि को अपना नही करता, अर्थात् उन्हें आत्मा के नही जानता, अत उनका कर्त्ता भी नहीं बनता ।

यथोक्त वस्तु स्वभाव को जानता हुआ ज्ञानी स्वभाव से च्युत होता ही नहीं । इसी कारण रागद्वेष मोहादि भावो मे न स्वय परिणत होता है, न दूसरे के द्वारा परिणत किया जा सकता है । तब टकोत्कीर्ण मात्र ज्ञायक भाव वाला ज्ञानी, रागद्वेष–मोहादि भावों का अकर्त्ता ही है । यह नियम है । यथोक्त वस्तु स्वभाव को नही जानता हुआ, अज्ञानी शुद्ध स्वभाव से अनादिकाल से प्रच्युत ही है, अत वह कर्म विपाक से उत्पन्न होने वाले रागद्वेष मोहादि भावों द्वारा परिणत हुआ, रागद्वेष मोहादि भावों को करता हुआ बँधता ही है । ऐसा नियम है । वास्तव मे अज्ञानी के ये पुद्गल कर्म के रागद्वेष मोहादि परिणाम ही हैं । वे ही पुन पुन पुद्गल कर्म बन्ध के हेतु बनते हैं । तव आत्मा रागादि का कर्त्ता क्यों नहीं है ? ऐसा प्रश्न होने पर उसका उत्तर यों है—

बाहगा सव्वे तेसि मह अकारगो अधम्मत्ता ।
साहग भावाण पुण अकत्तारवत्थु धम्ममि ॥१७॥
बावग भावाणं नियया तेसि परिणामगेऽह न कत्ता ।
तेण ताइ करतो अकारगो होइ भिन्नत्ते ॥१८॥

व्यख्या —मैं अधर्म होने से राग द्वेष मोह प्राणातिपातादि बाधक भावों का तथा शुभाशुभ विपाक का कर्त्ता नहीं हूँ, ये सभी परभाव है । फिर 'उनका कर्तृत्व है, वह भी मेरा धर्म नहीं, न मुझे वे करने योग्य हैं', इससे मैं परभावों का कर्त्ता नहीं । वह जानने योग्य है । और जो दानदयादि साधकभाव हैं वे भी जव तक मेरे परभावों का अभाव नहीं हो जाता, तब तक यद्यपि साधक प्रवृत्ति करने योग्य है । तथापि वास्तव

मे उत्सर्ग आत्म स्वभाव की अपेक्षा से तो उस साधक भाव का भी मै कर्त्ता नहीं हूँ । "मै तो शुद्ध आत्मीय स्वभाव के भाव का जो पारिणामिक भाव है, उसी का कर्त्ता हूँ", ऐसा जानता हुआ भोगे जाते हुए परभावों का भी मैं कर्त्ता नहीं, इससे अकारक है । यह जानना चाहिये । और फिर जो व्यापक हैं, अनादि अनन्त काल से स्वक्षेत्रावगाढ हो तन्मयत्व रूप से परिणत हैं; उनके स्वभावों का भी मै न पारिणामिक कर्तृत्वरूप से कर्त्ता हूँ, और न परप्रयोग से । अतः स्वरूप कर्तृता रूप आत्मा है, ऐसे विचार का निर्द्धारण करके, जो उसके प्राग्भाव निमित्त स्वरूप साधन कर्तृता को प्राप्त हो गये है । वे परभावों के, पूर्वकर्मोदय से ग्रहण–त्यागादि के कर्त्ता होने पर भी अकारक ही है । प्रश्न होता है कि ऐसा किस कारण से है ? उत्तर यह है कि भिन्न होने से–अर्थात् आत्मज्ञानी आत्मा व परवस्तु दोनों को एक दूसरे से भिन्न मानता है । अतः अव्यापक रहता है । और आत्मा से पर मानता है । अतः परभावों के अकर्तृत्व मे परिणत जीव अकारक ही होता है ।

जब तक जीव प्राणातिपातादि, प्रमाद तथा योगों की चञ्चलतादि से अशुद्ध द्रव्य को जो अशुद्ध अध्यवसायों के निमित्तभूत है, उनका परित्याग नहीं करता हुआ तब तक नैमित्तिक भूत बन्ध साधक भाव को भी नहीं त्यागता है । और ऐसा होने पर समस्त परद्रव्य को नही त्यागता हुआ, उसके निमित्तक भाव का भी त्याग नहीं करता, तब उसके बन्ध ही है । अथवा जो जीव प्राणातिपातादि पापकर्म और प्रमाद को पूर्व कर्म दोष से करता हुआ भी 'यह मेरा कार्य नही है" और "इनके निमित्त जो परभाव हैं; वे भी मेरे नहीं है ।" ऐसे तत्वज्ञान पूर्वक निमित्तभूत पुद्‌गलद्रव्य का त्याग करता हुआ नैमित्तिक भूत बन्ध साधक भाव का भी त्याग कर देता है । इस प्रकार परद्रव्यों को अव्यापकत्व रूप से ग्रहण करता हुआ भी त्यागी ही है ।

आत्मधर्म साधन के कारणभूत योगादि का ग्रहण हुआ भी अबन्धक ही है । जैसे स्वाध्याय मे वचनयोग की प्रवृत्ति और ध्यान के अवसर पर

मनोयोग की प्रवृत्ति । एव सर्वविरति के भी स्वधर्म रक्षक अहिसादि की प्रवृत्ति करते समय जो स्पर्श इन्द्रियप्रवृत्ति होती है, वह भी बन्ध का कारण नही बनती ।

आत्मा के अव्यापक अकर्तृत्वादि द्वारा निष्पादित सवरभाव है । द्रव्योपकरणदि बाह्यभाव जो एक क्षेत्रस्थ हैं, वे बाधक भाव नही है । और इस प्रकार द्रव्योपकरणादि को बाधकभाव माना जाय तो, वृक्ष, पृथ्वी आदि के आश्रय से बैठना, चलना, शयन, करना आदि करते हुये वे भी बाधक भाव हो जाते है । अत आत्मा मे स्वामित्व के अभाव द्वारा अबाधकत्व है । इससे निमित्तभूत परभाव उपादान के अशुद्ध होने पर ही बाधक बनते है । और उपादान के शुद्ध होने पर वे परभाव निमित्त नहीं बनते । इससे वे बाधक भी नहीं होते । यह जानना चाहिये —

सम्यग्ज्ञानबलेन भेदविशदज्ञानेन भित्वा पर
त्यक्त्वा भावविभाव दोष सकल स्वात्मस्वभावे स्थित ।
नव्य नैव करोति बन्ध पटल जीर्ण च निर्ज्जीर्य्य स,
शुद्धात्मत्व विकास भोगसुखता प्राप्त सदा शोभते ॥

अर्थ—सम्यग्ज्ञानबल और भेद के विशद ज्ञान से स्व-पर का भेद करके, समस्त भावविभाव दोष को त्यागकर, स्व आत्म स्वभाव मे जो स्थित हो जाता है, और नया बन्ध समूह नहीं करता, तथा पुरातन की निर्जरा करता है, वह शुद्ध आत्मस्वरूप के विकास से स्वरूप भोग को प्राप्त हुआ, सदा शोभित होता है ।

॥ इति निष्क्रान्तो बन्ध ॥

श्रीमद्देवचन्द्रगणिविरचितेऽध्यात्मप्रबोधेऽपरनाम देशनासारे
बन्धनिवारणरूप सप्तमोऽधिकार ।।

मोक्ष तत्व

॥ मोक्ष प्रकाशक नाम अष्टम अधिकार ॥

प्रविशतिमोक्षः

सम्मदिट्ठी जीवा मोक्खमग्गस्स रोअगा हुँति ।
सिद्धि सुहाओ अन्नं सुहं च नो मन्नइ नाणी ॥१॥

व्याख्याः—जो जीव सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान को प्राप्त कर चुके है, वे मोक्षमार्ग—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तपोरूप मुक्तिपथ के रोचक अर्थात् इच्छुक होते है । मिथ्यादृष्टि प्राणी तो स्वरूप का ज्ञान न होने से सुख मे भी विपर्यास भाव वाला होता है । अर्थात् पर-भाव, पर-भोग मे सुख बुद्धि वाला होता है । और स्वकार्य जो मोक्ष प्राप्ति रूप है; उसे जानता ही नहीं । यथार्थ ज्ञानी ही सिद्धि सुख के अतिरिक्त अन्य पौद्गलिक सुख को सुख नहीं मानते । इससे ज्ञानी अपने समस्त ज्ञानादिगुणों के निरावरणत्व को स्वकार्य व उसी के कर्तृत्व को सुख मानते हैं । अतः ज्ञानी जो उस सुख के इच्छुक हैं; वे मोक्षमार्ग के रसिक हैं । तत्वार्थसूत्र मे मोक्ष का लक्षण इस प्रकार हैः—

बन्धहेत्वभाव निर्जराभ्याम् ॥१॥ कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्षः ॥२॥

अर्थात् बन्ध हेतु—(मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, योगरूप) ५७ हेतुओं के अभाव व निर्जरा से, समस्तकर्मो का क्षय हो जाना मोक्ष है । सर्वथा कर्मदलिकों का अभाव ही मोक्ष है । सर्वगुणों की सम्पूर्ण प्राग्भावना ही सिद्धि है । कहा भी है :—

"णो दंसणिस्स नाणं नाणेण विणा न हुति चरणगुणा ।
अगुणस्स नत्थि मुक्खो नत्थि अमुक्खस्स निव्वाणं ॥"

अर्थः—सम्यग्दर्शनविहीन को ज्ञान नही होता, सम्यग् ज्ञान के विना सम्यग् चारित्र गुण प्राप्त नहीं होता । चारित्रगुण रहित को मोक्ष की प्राप्ति

का अभाव है और मोक्षाभाव मे निर्वाण का भी अभाव है । मोक्ष के विना सम्पूर्ण सुख की प्राप्ति नहीं होती, अतएव मोक्ष का उपाय जानने व करने का प्रयत्न करना चाहिये ।

वधाण च सहाव वियाणिउ अप्पणो सहाव च ।
बधेसु जो विरज्जइ सो कम्मविमोक्खण कुणइ ॥२॥

व्याख्या —जो निर्विकार चैतन्यचमत्कारमात्र आत्मस्वभाव को और उसमे विकार करने वाले बन्धों के स्वभाव को जानकर बन्धों से विरक्त होता है, वही समस्त कर्मो का क्षय करके मुक्त होता है । शका इस अर्थ से तो आत्मा और बन्ध को पृथक करने वाले मोक्ष का हेतुत्व है । ऐसा नियम होजायगा । अर्थात् आत्मा और बन्ध को अलग करने मे मोक्ष हेतुरुप है यह सिद्ध होगा ? अव किसके द्वारा आत्मा व बन्ध पृथक किये जाते है । इसे स्पष्ट करते है —

जीवो वधो अ तहा छिज्जति सलक्खणेहि नियएहि ।
सपन्ना छेयणओ छिन्न णाण मावन्ना ॥३॥

व्याख्या—आत्मा और बन्ध को पृथक करने के कार्य मे आत्मा कर्तृत्व करण मानने पर निश्चय से स्वय से भिन्न करना असम्भव होने से भगवती प्रज्ञा ही छेदनात्मक करण है । वह इस प्रकार कि, उन दोनों के छिन्न होने पर नानात्व अवश्य आजाता है । अत आत्मा और बन्ध को द्विधा प्रज्ञा से ही करना कहा है । यहाँ शका होती है कि आत्मा और बन्ध चैत्य चेतक भाव से अत्यन्त मिले हुये एकभूत है क्या ? यदि भेदविज्ञान के अभाव से ही चैत्य-चेतक रूप से व्यहृत होता हुआ प्रज्ञा से छिन्न किया जा सकता है क्योकि नियत स्वलक्षण सूक्ष्मान्त सन्धि मे सावधान निपातन होता है, ऐसा जानते हैं । सर्व द्रव्यों से भिन्न आत्मा का असाधारण चैतन्य लक्षण है । और वह प्रवृत्त होता हुआ उन उनमे अभिव्याप्त होकर प्रवृत्ति करता है । निवृत्त होता हुआ भी उस चैतन्य लक्षण को लेकर निवृत्त होता है । वह सभी सहप्रवृत्त या क्रमप्रवृत्त पर्याय

मात्र आत्मा है । ऐसा लक्षण करना उचित है । एक लक्षण लक्ष्य होने से समस्त सह और क्रम प्रवृत्त अनन्त पर्याय हैं वे अविनाभावित्व रूप से हैं । चैतन्य का जो चिन्मयत्व है, वही निश्चय से आत्मा है । और बन्ध का तो आत्मद्रव्य के साथ असाधारण रागादि जो साधारणतया धारण किये जाते हुये प्रतिभासित होते हैं, क्योंकि वे रागादि सदा चैतन्य चमत्कार से अतिरिक्त प्रतिभासमान रहते हैं । और जब तक ये रागादि आत्मा के स्वपर्यायव्यापि रूप चैतन्य मे प्रतिभासित होते हैं; तभी तक रागादि का प्रतिभास होता है; क्योंकि रागादि के बिना भी चैतन्य का आत्मलाभ सम्भव है ही । और जो रागादि की चैतन्य के साथ ही उत्प्लवन (उत्पत्ति) है; वह चेतक भाव की समीपता से ही है । क्योकि आत्मा और रागादि एक द्रव्य नहीं हैं । विचार करते हुए रागादि आत्मा से भिन्न ही ज्ञात होते हैं । जैसे दीपक और घट, दीपक से प्रकाशित होता हुआ घट दीपक नहीं है पृथक वस्तु है । वैसे ही प्रदीप की दीपकता के समान आत्मा की चेतकता है । यह मानना युक्तियुक्त है । चेतकता रागादि की नहीं है । इस प्रकार आत्मा व रागादि की परस्पर प्रत्यासन्त्रि तो होती है; परन्तु भेद की सम्भावना तो है ही । इनका अर्थात् आत्मा व रागादि एकत्व का व्यामोह झूँठा है; अतः वह प्रज्ञा द्वारा छेद्य (काटने योग्य)–दूर करने योग्य ही है । प्रज्ञा की विशेषता वर्णन करते हैंः—

प्रज्ञा छेत्री विशुद्धा स्वपर–विभजने प्रेरिता साधु पूज्यै,
भेंदं कृत्वा प्रवृत्ता निजगुण निचयं स्वीय धर्मेंदधाना ।
मिथ्याबन्धान्निवृत्ता परदलपटले भेदभावं दधात्री,
शुद्ध स्वात्म–स्वभावं परमपदमयं कुर्वती भ्राजते सा ॥१॥

व्याख्याः—पूज्य जनो द्वारा स्व–पर को पृथक करने मे भली प्रकार प्रेरित की गई विशुद्ध प्रज्ञा पृथक्करण मे समर्थ होती है । वह स्व–पर को भिन्न करके स्वकीय धर्म में स्वगुण समूह को धारण करती हुई प्रवृत्त होती है । और पर–जड़ कर्मदलिक राशि मे भेद भाव को धारण करती मिथ्या

वन्ध से निवृत्त होती है । वह शुद्ध आत्मस्वभाव को परमपदमय बनाती हुई शोभित होती है ।

अव आत्मा व कर्मवन्ध को पृथक करके क्या करना चाहिये उसे कहते है —

जीवो वधो अ तहा भित्तूण सलक्खणेहि णिअएहि ।
वधो छेयेअव्वो, सुद्धो अप्पा य छेत्तव्वो ॥४॥

व्याख्या —प्रश्न होता है कि किस उपाय से उस आत्मा को ग्रहण किया जाय ? उत्तर यह है कि प्रज्ञा—अर्थात् प्रकर्ष बुद्धि से ही शुद्ध आत्मा ग्रहण करने योग्य है, क्योकि शुद्ध आत्मा को ग्रहण करते हुये और पर से विभक्त करते हुये प्रज्ञा ही कारणभूत है । अत जिस प्रज्ञा से विभक्त हुआ आत्मा उपलक्षित होता है, उसी प्रज्ञा से ग्रहण करने योग्य है । सम्यग्ज्ञान से विभक्त करके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से अपने अनन्त गुण-पर्यायरुप मे रमण करना चाहिये । उसी मे स्थिर उपयोग जिसका हो जाता है, वह नवीन कर्मो से लिप्त नही होता ।

अव प्रज्ञा से आत्मा कैसे ग्रहण किया जाय ? यह कहते है —

पण्णाए घेत्तव्वो जो चेआ सो अह तु णिच्छयओ ।
अवसेसा जे भावा, ते न मज्झ पर त्ति णायव्वा ॥५॥

व्याख्या —जो वास्तव मे स्वलक्षणावलम्बिनी प्रज्ञा से विभक्त किया गया चेतन है 'वह ही मैं हूँ, और मेरा कार्य ज्ञायकत्वादि है । और जो ये अविशिष्ट अन्य भाव हैं वे अपने लक्षण से लक्ष्य है । और वैसे ही व्यवहृत होते हुये दिखते है, वे सभी व्यापक चेतनत्व का व्याप्यत्व न मिलने से मुझसे अत्यन्त भिन्न हैं, अत मै ही, मेरे द्वारा ही, मुझको ही, मुझ से ही, आज ही मुझको, ग्रहण करता हूँ । वह चेतन अनेक क्रिया वाला होने से आत्मा को चेताता हुआ ही चेतता है । चेतायमान होने पर चेत जा । अर्थात् चिन्मय ज्ञानमय होजा । क्योंकि चेतायमान को चेताता हूँ । चेतायमान से ही चेताता हूँ, चेतमान को ही चेताता हूँ । अथवा जो

अचेत है, सावधान नहीं है, उसे भी चेतना से चेताता–सावधान करता हूँ। न मैं जड़ हूँ, न जड़ का भोगी हूँ, किन्तु सर्वथा विशुद्ध चिन्मात्र भाव हूँ।

ज्ञात्वा स्वं च परं च लक्षणवशाद् भेदं च कृत्वा द्विधा,
ज्ञानानन्दमयं महोदयपदं संगृह्य यः संस्थितः।
सोऽहं कारकचक्रतो निजगुणे तादात्म्यभावं गतः,
सत्ताऽऽविष्करणाद्विशुद्ध ममलं रूपं स्वकीयं श्रितः ॥२॥

अर्थः—जो आत्मा स्व और पर को उनके लक्षण से जानकर दोनों मे भेद करके दोनो को पृथक करके, अपने ज्ञानानन्दमय महोदय पद को, सम्यक् प्रकार से ग्रहण करके, सुष्ठु प्रकार से स्थित होगया है। वह मैं कारक चक्र–कर्त्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण से निज गुण मे तादात्म्यभाव को प्राप्त हो गया हूँ। और सत्ता का आविष्कार–(प्रकट) हो जाने से अपने विशुद्ध मलरहित रूप को पा गया हूँ।

चेतना से ज्ञान–दर्शन के विकल्पों को अतिक्रमण करने से चेतयितृत्व के समान द्रष्टत्व ज्ञातृत्व को जानकर उन्हें आत्मा का स्वलक्षण जाने। अर्थात् ज्ञातृत्व द्रष्ट्रत्व तो आत्मा के ही लक्षण हैं। अतः मैं द्रष्टा आत्मा को ग्रहण करता हूं। जिसे ग्रहण करता हूँ, उसे देखता हूँ। देखता हुआ देखता हूँ, देखने वाले को ही देखता हूं, अथवा पर को न देखता हुआ देखता हूँ। न देखते हुये को देखता हूँ, किन्तु सर्व विशुद्ध दृग् मात्र भाव हूँ। और ज्ञाता आत्मा को ग्रहण करता हूँ, जिसे ग्रहण करता हूँ, उसे जानता हूँ, जानते हुये को जानता हूँ, न जानते हुये को भी जानता हूँ, किन्तु सर्व विशुद्ध ज्ञप्तिमात्र भाव हूँ। यहाँ शंका करके प्रश्न करते है कि चेतना जो दर्शन–ज्ञान विशेषात्मिका होने से कैसे दोनों रूपों का अतिक्रमण कर सकती है ? और जो चेतना के दो रूप हैं, वे दर्शन–ज्ञान से है; अतः उनका अतिक्रमण नहीं हो सकता। जो भी

व्यतिक्रम होता है, वह सामान्य विशेष अवबोध से अतिक्रान्त हो जाय तो चेतना ही नहीं रहती और चेतना के अभाव मे दो दोषों की आपत्ति हो जाती है — (१) स्वगुणोच्छेदी चेतन के अचेतनता की आपत्ति होती है, अथवा (२) व्यापक भाव मे व्याप्य चेतन का अभाव हो जाता है । अत इन दो दोषों के भय से दर्शन–ज्ञानात्मिका ही चेतना स्वीकार करनी चाहिये । इस प्रकार चेता तो चिन्मय ही ही । अन्य सभी भाव पर–जड के है, अत अपना हो भाव ग्राह्य है । अन्य सर्व हेय है ।

एकस्मिन्नपि जीवद्रव्यविपये वृत्तिर्द्विधा वर्णिता,
सज्ज्ञाना निजचेतना विदधति भावान्विशेपात्समान् ।
सामान्याखिलभाववेदनपरा सद्दर्शनाचेतना,
तत्त्यागे जडता भवेदिति ततश्चैतन्यवान् चेतन ॥३॥

अर्थ —एक जीवद्रव्य मे दो प्रकार की वृत्ति वर्णन की गई है — एक सज्ज्ञान रूप चेतना है, जो विशेषता से सर्व भावों को जानती है । दूसरी सद्दर्शनारूप चेतना है, वह सामान्य से अखिल भावों को जानती है । इन दोनों का त्याग कर देने से तो जडभाव की प्राप्ति हो जाय ? अत चेतन ज्ञान दर्शनमय चेतनावान् है ।

को दक्खो त पभणइ जो परभाव नियत्ति मन्नेइ ।
जो परभाव गिण्हइ सो तेण होइ अवराही ॥६॥
अवराही सो बज्झति निरवराही न बज्झइ कयावि ।
जो नियसहाव भोई सो निस्सको सया सुहओ ॥७॥

व्याख्या —जो पर–भाव को अपना मानता है उसको दक्ष (चतुर) कौन कह सकता है ? क्योंकि जो परभाव को ग्रहण करता है, वह अपराधी चोर है । "जो अपराधी है, वही बॉधा जाता है निरपराधी कभी नहीं बॉधा जाता ।" जो निज–स्वभाव भोगी है, वही नि शक तथा सदा सुखी है । साराश कि जैसे अपराधी कभी नि शक और सुखी नहीं रह

सकता वैसे ही परभाव भोगी भी सुखी नहीं रह सकता । स्वभाव भोगी ही सुखी रह सकता है ।

जो पर-जड़ और आत्मा के नियत अपने अपने लक्षणों को जानने वाली प्रज्ञा से युक्त है, वही वास्तव मे ज्ञानी है । वह निश्चित रुप से एक चिन्मात्र भाव को अपना जानता है । शेष समस्त भावों को जड़; पर के जानता है । इस प्रकार जानता हुआ पर भावों को 'मेरा' कैसे कहे ? क्योंकि पर-जड़ और आत्मा का स्व-स्वामी सम्बन्ध असम्भव है । जड़ पुद्गल आत्मा की अपनी वस्तु नहीं । जो अपनी नहीं उसका कोई अपने आपको स्वामी कैसे कह या मान सकता है । अतः सर्वथा चिद् भाव ही ग्रहण करने योग्य है । शेष सर्व त्यागने योग्य है ।

सिद्धान्तोऽयमुदात्तबुद्धिनिपुणैः सौख्यार्थिभिः सेव्यतां,
तत्वज्ञानमयं सदैव परमं शुद्धस्वरूप्यस्म्यहम् ।
एते स्वात्म-विलक्षणा जड़मया द्रव्याः पृथग् लक्षणा,
स्ते मे नास्ति स्वरूपतो मम परद्रव्याः समग्रा अपि ॥४॥

अर्थः—यह सिद्धान्त उदात्तबुद्धि निपुण सौख्याभिलाषियों को सेवन करना चाहिये कि "मैं सदैव तत्वज्ञानमय, श्रेष्ठ और शुद्ध स्वरूप वाला हूँ, और ये मेरे आत्मा से विलक्षण-आत्मलक्षणविहीन जड़मय द्रव्य मुझसे भिन्न लक्षण वाले है, वे मेरे नहीं, ये सभी परद्रव्य-जड़वस्तुएँ स्वरूप से मेरी नहीं ।" पर पर ही रहता है, वह स्व कभी नहीं हो सकता । अत-स्व ही मेरे है । वे मुझ मे ही हैं ।

जो पर भावों को ग्रहण करता है, वह चोर होता है । जो चोर है, वह अपराधी है, जो अपराधी है वह बाँधा जाता है । जो चोर नहीं है वह अपराधी भी नहीं । जैसे—जगत् में जो परधन ग्रहण रूप अपराध करता है, उसे ही बँधने की शका भय रहता है । जो पवित्र है, चोरी नही करता, उसे बँधने की शका भी नही होती । वैसे ही जो आत्मा अशुद्ध होता हुआ, पर-जड़ का ग्रहण करता है उसे बंध की शका होती

है । जो शुद्ध है, पर वस्तु–जड को ग्रहण नहीं करता, उसके शका का भी सम्भव नहीं होता । ऐसा नियम है । अत सर्वथा समस्त परकीय भाव के परिहार से शुद्ध आत्मा का ग्रहण करना चाहिये । वैसा होने पर ही आत्मा का निरपराधित्व है । और जो निरपराधी चेतन है, वह नि शक तभी रहता है जबकि नित्य आराधना–पूर्वक रहता है । उसे तो परद्रव्य परिहार से शुद्धात्म–सिद्धि के सद्भाव से बन्ध की शका का सम्भव ही नहीं । अत "एकमात्र उपयोगलक्षण शुद्ध आत्मा मै हूँ" ऐसा निश्चय करता हुआ, नित्य ही शुद्धात्म सिद्धि लक्षण आराधना में वर्तता हुआ, होने से आराधक ही होता है । जैसे कि —

विषयसुखपिपासा-वर्त्तमानस्य जन्तो
जिनवरकथिता सत्साधनादि क्रियाऽपि ।
भवति हि भवहेतु पुद्गलास्वाददोषान्
निजपरिणति रगा साधना सिद्धि हेतु ॥५॥

अर्थ —विषयसुख की अभिलाषा–लालसा मे वर्त्तते हुये प्राणी के भगवान् जिनेश्वर देव द्वारा कही गई सत्साधनादि क्रिया भी पुद्गलास्वाद–दोष से ससारवृद्धि की निश्चय ही हेतु होती है । सिद्धि–मुक्ति की हेतु तो निजपरणिति–ज्ञानदर्शन रूप से परिणत होती हुई व उन्हीं के रग में रँगी हुई साधना ही होती है ।

अत आवश्यकादि-प्रतिक्रमणादि क्रिया भी निरनुष्ठान [१] ज्ञानी के शुद्ध साध्य के अवलम्वन से ही सिद्धि की हेतु बन जाती है । और जो अज्ञानी जनसाधारण के प्रतिक्रमणादि हैं, वे शुद्धात्म साध्य के अभाव मे सिद्धि के अभावरूप स्वभाव वाली स्वय अपराध स्वरूप होने से विषकुम्भ ही है । विचार करने से क्या होने वाला है । जो एकान्त से द्रव्य रूप है, वह विधि रहित प्रतिक्रमण है, वह उस प्रकार के पुण्य–बन्ध का हेतु भी नही है, जैसा कि विधियुक्त किया गया प्रतिक्रमण,

१ कारण रूप से न करने वाले

जो पुण्य बन्ध का हेतु ही होता है; तथापि शुद्ध सिद्धत्व साध्य शून्य व्यक्ति के वह सर्व अपराध रूप विषवृक्ष को कर्षण करने मे असमर्थ होने से अमृतकुम्भ जैसा होने पर भी प्रतिक्रमण, कार्यरूप सवर निर्जराभूत उस प्रकार की तृतीय भूमि को नहीं देखता हुआ, स्वकार्य करने में असमर्थ होने से व विपक्ष–पुण्यबन्ध का कार्य करने वाला होने से असाधक ही है । निरनुष्ठान ज्ञानी के विधिसहित भाव–विशुद्धि से साध्य सापेक्ष जन के प्रतिक्रमणादि स्वयं शुद्धात्मा सिद्धि रूपत्व से सर्वापराधरूप विष दोनों को सर्वथा खेचकर दूर कर देने वाला होने से साक्षात् स्वतः ही अमृतकुम्भ होजाता है । व्यवहार से द्रव्यप्रतिक्रमणादि का अमृतकुम्भत्व वही सिद्ध कर देता है । और उसी क्रिया के द्वारा निरपराध (पापरहित) होजाता है । अथवा चित्त मे भाव विशुद्धि का अभाव है, तो द्रव्यप्रतिक्रमणादि भी अपराध ही रहते हैं । अतः तृतीय भूमिका से ही निरपराधित्व है । यह सिद्ध होता है । उसी की प्राप्ति के लिये यह द्रव्य प्रतिक्रमणादि क्रिया हैं ।

अतः साध्य के अवलम्बन द्वारा ही सर्वज्ञोक्त विधि सापेक्ष प्रतिक्रमणादि ही साधक स्वरुप है ।

प्रतिक्रमण; आलोचन, क्षामणा और प्रत्याख्यान उनपचास (४९) भाँगों से किये जाते हैं । वे बागे निम्नाङ्कित हैः—

'तिन्नि तीया तिति दुआ तिनि क्किक्काय हुंति योगेसु ।
ति दु इक्कं ति दु इक्कं हुंति करणेसु ॥१॥
पढमे लब्भइ एगो सेसेसु पए सु ति अ ति अं नि अं नि।
नव नव तितिग नव नव भंगा गुणवन्ना विरइए ॥२॥

अर्थः—इनमें से प्रथम भग त्रिविध त्रिविध से अर्थात् मनो वाक् काय से करना कराना और अनुमोदना रूप है, वह नवकोटि विशुद्ध मुनियों के होता है । वे मन, वचन और काय–इन तीनों योगों से सावद्य कार्य न करते है, न कराते हैं, और न सावद्यकार्य की अनुमोदना करते है ।

एतल्लक्षण त्याग सर्व विरतियों के है । तथा मनोवाक् काय योगोद्वारा जो सावद्य कार्य न स्वय करता है न कराता है, यह प्रत्याख्यान उत्कृष्ट देशविरति श्रावकों के होता है । (जबकि वे सामायिक पौषध मे या इग्यारवीं प्रतिमा के धारक हों) उनके योगत्रिक से सावद्य की अनुमोदना शेष रहती है । करने और कराने की नहीं, और यह सामायिक पौषधादिस्थित देशविरति के ही होता है, उन्हीं के करने का प्रत्याख्यान है । वह स्वाधीन ऐश्वर्यवान् श्रावक आत्मा के द्वारा पराधीन दासादि द्वारा किये जाने वाले कार्य मे अनुमोदन रूप होता है । अनुमोदन का प्रत्याख्यान मूल गुण वाले देशविरति के लिये अशक्य व दुर्लभ ही है । अनुमोदन न रहे तो मुनित्व का प्रसङ्ग आ जाता है । वह दिग्व्रती[1] अणुव्रतचारी नहीं रहता । अर्थात् श्रावक नहीं रह जाता । उत्तर गुण मे तो विगय सचित्तादि के प्रत्याख्यान मे अनुमोदना का प्रत्याख्यान गृहस्थव्रती के भी सम्भव ही है । यहाँ प्रश्न होता है कि उत्तरगुण सम्बन्धी प्रत्याख्यान में निर्ग्रन्थों-साधुओं के भी सर्व भाँगो का सम्भव क्यों नहीं होता है ? उसका उत्तर यों है —

यद्यपि निर्ग्रन्थों के आहार उपधि आदि का ग्रहण है, तदपि वह स्वगुणरक्षण और गुणिजनों की वैयावृत्त्य-सेवादि के लिये ही है, अत उसकी निरवद्यता ही है । मुनि विषय कषायादि की वृद्धि के लिये आहारादि का ग्रहण नहीं करता । विषय कषाय की वृद्धि या शरीर राग से कवल मात्र ग्रहण करना भी सावद्यत्व ही है । कदाचित् सकल्पमात्र भी हो जाय तो दूर करना है । परिणत तो करना ही नहीं, ऐसा जानना चाहिये । परिस्थिति का उच्छेद हो जाने पर तो उसे करने का उपदेश ही है । क्योंकि 'सव्व समाहिवत्तियागारेण' का आगार दिखता ही है । सर्वसमाधि का अर्थ है 'मरण न होना' । मरण दो प्रकार का है — द्रव्यत भावत । द्रव्यत आहारत्यागलक्षण मरण और भावत सम्यग्

---

१ अणुव्रतचारी

दर्शनादि की क्षति रूप होता है । उसे वारण करने के लिये आहारादि होता है, वह करने योग्य ही है । जिसके विकल्पादि से उस परिणति द्वारा स्वगुण का ध्वंसन (नाश) हो, ऐसी सावद्यादि की सेवना हो तो उस विकल्प को दूर करने के लिये अपवाद का सेवन नहीं है । निशीथचूर्णि मे कहा हैः—

"भोगा विगप्पा खलु निमित्तजोगस्स भवति, निमित्तच्चाये न भवति । तेण निमित्त परिचाओ, नाववायसेवणं । निमित्ता भावे वि जे वियप्पा सज्झाय ज्झाण घायगा अहवा सुअसंपन्नस्स पाणच्चाय रोगादि कारगा, वायण पुच्छणादि वाघाय हेयवो; तव्वारणाय अववाओ वुंत्तो ।

अर्थः—वास्तव मे भोग विकल्प निमित्त योग से होते हैं । निमित्त का त्याग कर देने पर नहीं होते । अतः निमित्त का परित्याग करदे; पर अपवाद का सेवन नहीं । निमित्त के अभाव मे भी जो विकल्प स्वाध्याय ध्यान के घातक हैं; अथवा श्रुत सम्पन्न मुनि के प्राणत्याग या रोगादि के कारण हैं; वाचना पृच्छनादि मे व्याघात के हेतु हैं; उन्हें वारण करने के लिये ही अपवाद सेवन कहा गया है ।

इस प्रकार निर्ग्रन्थों के आहारादि सभी प्रशस्त रूप हैं । अतः विकल्पता नहीं । हर्षादि होने पर भी त्रिविध त्रिविध प्रत्याख्यान का उच्छेद नहीं होता । कहा भी हैः—

"परमरहस्स मिसीणं ससमय परसमय लद्धसाराणं ।
परिणामि अं पमाणं निच्छयमवलंबमाणाणं ॥"

अर्थः—स्वसमय-जिनेन्द्र के सिद्धान्तों और परसमय-अन्यदर्शनियों के सिद्धान्तों का सार जानने वाले, निश्चय का अवलम्बन लेते हुये जो परमपूज्य ऋषिजनों ने जो परिणामित किया है अर्थात् आचरण किया है, वही प्रमाण माना जाता है ।

यद्यपि देशविरतियों के अनशनादि मे त्रिविध त्रिविध प्रत्याख्यान कहा गया है, और वह अननुमोदन रूप हैं, तदपि द्रव्यरूप है । भावरूप

नहीं । द्रव्य भाव दोनों से जो नवकोटि प्रत्याख्यान है, वह तो मुनियों के ही होता है ।

प्रतिक्रमण तो आत्मा को परभावों से अपकर्षण (हटाने) रूप है । परभाव ग्रहण रूप दोष जो अकरणीय है, वे हा । कैसे हो गये । इत्यादि पश्चात्ताप करना आलोचना है । क्षामणा है, जो न करने योग्य अविनय आशातनादि या किसी को कष्ट पहुँचाना आदि हो जाने पर समीप जाकर हार्दिक नम्रतापूर्वक क्षमा माँगी जाती है ।

ये सभी निरनुष्ठान ज्ञानी के शुद्ध विधि से साधक के लिये है, तो सवर-निर्जरा रूप है । निरूनुष्ठानों को साध्य का अवलम्बन लेने के लिये तथाविध विधि के अभाव मे भी सवर निर्जरा रूप है । साध्य शून्य निरनुष्ठान वालों को पुण्य बन्ध कराने वाले हैं । वे यदि धमार्थ है, तो ससारपरित्तता के हेतु है । यथाविधि न होने पर भी धर्मार्थ किये गये ये अशुद्ध करने पर भी त्यागादि क्षयोपशम के हेतु हैं । तत्काल गुण प्राग्भाव भले न हो, तथापि सानुष्ठानों के धर्मनिष्पादन व गुण प्राग्भाव का हेतुत्व इनमे ही है । सामान्य बुद्धिविहीन जनों के तो ये बालक्रीडावत् है, यह जानना चाहिये । उस प्रकार बुद्धिहीन जनों मे इनके करने पर किन्हीं को गुण लाभ देखा जाता है, और वह तत्काल स्वाभाविक रूप से किया गया अनुष्ठान त्याग मे, धर्म मे, अभिलाषा होने पर गुण की उपलब्धि भी है ही, क्योंकि पौद्‌गलिक सुखों की आशसा दोष रूप है, वह नहीं होती । और जो पहले विधि रहित अनुष्ठान करने वालों को भी वैसा करने का उपदेश किया गया है । वह तो उन मोहग्रस्त जीवों को सत्सगादि का निमित्त है क्योंकि कभी सत्सगति से धर्म की प्राप्ति भी होगी । जैसे नागिला के पति भवदेव की प्रवज्या जो द्रव्य थी, वह भी भविष्य में शासनप्रभावनादि के लिये बन गई । क्योंकि 'गुरुणो जाणति गुणा' इस वाक्य से यह सिद्ध है कि क्या गुण है ? यह तो गुरुजन ही जान सकते है । तथा अभ्यास आदि के लिये की गई क्रिया भी उस प्रकार के

व्यक्तियों को यद्यपि उस अवसर पर गुणित्व के लिये नहीं बनती; फिर भी अभ्यास के लिये धर्म को प्रकट करने की इच्छा सभी को करने योग्य है । तथापि सवरत्व तो यथार्थ मार्ग मे ही है । इत्यादि कहा गया है । जैसे महानिशीथ-अध्ययन में मुखवस्त्रिकादि लक्षणयुक्त भी द्रव्यलिङ्गी असयत कहे गये है । एवं अतिमुक्त निर्ग्रन्थ के अधिकार मे, अतिमुक्त ने जलक्रीड़ा की आलोचना तक भी नही कि फिर भी केवलज्ञान हो गया । तथा सम्यग्दर्शन ज्ञान-चारित्र परिणतात्मा आवश्यकादि क्रिया मे उपयोग सहित प्रवृत्त हुआ, पूर्वकर्म की निर्जरा करता हुआ, सवरी, अप्रमत्तदशा मे स्थित है, धर्मध्यान के अवलम्बन से क्षायिक परिणाम को प्राप्त असख्य गुण विशुद्धि से असख्यगुण निर्जरा वाला होता है । क्षायक श्रेणी का स्वरूप यों है:—

अणमिच्छमीस सम्मंतिआउ इग विगल थीण तिगुज्जो अं ।
तिरि नरय थावर दुगं साहारायव अडनपुत्थीए ॥९९॥
छग पुं संजलणा दो निद्द विग्घावरण क्खए नाणी ।

(पंचमकर्मग्रन्थ)

अर्थः—अनन्तानुबन्धी कषाय चतुष्क, मिथ्यात्वमोहनीय, मिश्र, मोहनीय सम्यक्त्व मोहनीय, मनुष्यायु के बिना तीन आयु, एकेन्द्रियजाति विकलत्रयजाति, स्त्यानर्द्धि त्रिक् (निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला, स्त्यानर्द्धि) उद्योत, तिर्यञ्चगति, तिर्यगानुपूर्वी, नरकगति, नरकानुपूर्वी, स्थावर, सूक्ष्म, साधारण, आतप, अप्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्क, प्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्क, नपुंसकवेद, स्त्रीवेद, हास्यषट्क, पुरुषवेद, सज्वलन कषाय चतुष्क, निद्रा, प्रचला, पाँच अन्तराय, पाँच ज्ञानावरण, और चार दर्शनावरण इन ६३ प्रकृतियों का क्षय करने पर जीव केवलज्ञानी होता है । विस्तृत स्वरूप कर्मग्रन्थ मे देखना चाहिये । यहाँ केवल क्षय होने वाली प्रकृतियो के नाम मात्र दिये है । पुनः प्रतिक्रमण की महत्ता बतलाते है । कहा है कि :—

"कम्मं जं पुव्वकयं, सुहासुहं मणेय वित्थरविसेसं ।
तओ णियत्तए अप्पय तु जो सो होइ पडिक्कमण ॥"

अर्थ—शुभ अशुभादि रूप अनेक विस्तार विशेष रूप जो पूर्वकृत कर्म है, उनसे आत्मा को निवृत्त करदे–पृथक्, करदे–वही वास्तविक प्रतिक्रमण है ।

जो आत्मा प्रमादयुक्त है, वह शुद्ध भाववाला कैसे हो सकता है ? कषाय के भाव की गुरुता से जो अलसता होती है, वही प्रमाद है । अत स्वरस, निर्भर नियमित स्वभाव को प्राप्त होता हुआ मुनि परमशुद्धता को पाता है । और शीघ्र ही मुक्त हो जाता है । यह कैसे होता है ? वही बतलाते है —

त्यक्त्वा स परद्रव्य प्रचारभोग, स्वद्रव्यभोगाद् लभते स्वरूपम् ।
सर्वापराधत्यजनेन शुद्ध स्तत्त्वामृतास्वादरतो विशुद्ध ॥६॥

अर्थ—जो परद्रव्यपुद्गल के प्रचार भोग का परित्याग करके, स्वआत्म द्रव्य के भोग से स्वरुप को प्राप्त करता है, वह सर्व अपराध दोष–पाप को छोड देने से शुद्ध हुआ, तत्त्वामृत के आस्वादन मे लगा हुआ विशुद्ध बन जाता है । विशुद्धात्मा के बन्ध का अभाव हो जाता है । सिद्ध कैसे होता है ? यह कहते है —

बन्धाभावान्निजपदगतोनिर्जरत्कर्ममुक्तो,
नित्योद्योत स्फुरित सहजावस्थमात्मस्वरूपम् ।
कृत्वा भुञ्जन् गुणपरिणति सच्चिदानन्दमग्न
शुद्ध सिद्धो जयति नियत दर्शनज्ञानलीन ॥७॥

अर्थ—बन्ध के अभाव से स्वरूप को प्राप्त आत्मा निर्जरते हुये अर्थात् आत्मा से पृथक होते हुये कर्मो से मुक्त हो जाता है । और नित्य उद्योतित स्फुरित सहज अवस्था वाले आत्मस्वरूप को प्रकट करके गुणपरिणति को भोगता हुआ सच्चिदानन्द मे मग्न बन जाता है । ऐसा शुद्ध नियत दर्शनज्ञान मे लीन सिद्ध जयवन्त है ।

इति श्रीमद्देवचन्द्रगणि विरचितेऽध्यात्मप्रबोधेऽपरनामदेशनासारे मोक्षनिरूपणोनामाऽष्टमोऽधिकार ।

॥ मोक्ष प्रकाशक शुद्धोपदेश नाम नवम अधिकार ॥

जो आत्मा सद्गुरु के वनचोपदेश सुनने से शुद्ध साधना के उद्यम मे लगा हुआ है, पूर्ण शुद्धानन्द को सिद्ध करना चाहता है और तत्व प्राप्त करने का अभिलाषी है; वह जिज्ञासु बना हुआ मोक्ष मार्ग के अभिमुख होता है ।

कत्ता भोत्ता भावो नो परभावाणं कं पि दव्वम्मि ।
अन्नाणेणं जीवे न नाणे तस्सओ अभावो ॥१॥

व्याख्याः—किसी भी द्रव्य मे परभावों का कर्त्तृत्व और भोक्तृत्व नहीं है । अतः परभाव कर्त्तृत्व जो जीव मे हो गया है, वह अज्ञान से है । जीव के ज्ञान के अभाव मे हुआ है । यथार्थ ज्ञान होने पर उसके परभाव के कर्त्तृत्व का अभाव हो जाता है । अतः यथार्थ ज्ञान मे कर्त्तृत्वादि भाव चले जाते हैं ।

दव्वा जं उप्पज्जइ तं गुणं तेण सो अभिन्नोत्ति ।
जह कुंडलाइ भावे कणयं एगत्तणेणेव ॥२॥
जीवस्साजीवस्स उ जे सभावा पयासिया सुत्ते ।
जीवाजीवा दव्वा तेसिमभिन्ना वियाणाहि ॥३॥
संजोगे जे जाया तेन कज्जं तु तस्स दव्वस्स ।
कारणजोगे संति कारण चाए न ते हुंति ॥४॥
कज्ज पडुच्च कत्ता कत्ताणं तह पडुच्च कज्जाणि ।
उप्पज्जंति णियमा सिद्धि उ न दीसइ अन्ना ॥५॥

व्याख्याः—द्रव्य से जो उत्पन्न हो, वह उस द्रव्य का गुण होता है और वह उस द्रव्य से अभिन्न होता है जैसे कुण्डलादि भाव मे स्वर्ण की एकता है । जीव और अजीव के जो जो स्वभाव सूत्र मे प्रकाशित किये है, उन उन से जीव अजीव द्रव्यो को अभिन्न जानना चाहिये । संयोग से

जो हो गये वे उस द्रव्य के कार्य नहीं, क्योंकि वे निमित्त कारण से होते हैं । जैसे जीव के मिथ्यात्वादि कारणों से बन्ध होता है और उन कारणों के न होने पर बन्ध भी नहीं होता । जीव के स्वभाव ज्ञानादि है, और अजीव के जडत्वादि ।

कार्य का उद्देश्य करके कर्त्ता और कर्त्ता के आधीन कार्य उत्पन्न होता है । ऐसा नियम है । क्योंकि जीव भी क्रमनियमित आत्म-परिणामों से उत्पन्नमान होने से जीव है । इसी प्रकार अजीव भी अजीव के क्रमनियमित परिणामों से उत्पन्न होता हुआ अजीव ही है । अन्य नहीं । सर्व द्रव्यो के अपने अपने परिणामों से उत्पद्यमान भावों के होने से जीव अजीव के साथ कार्यकारण भाव सिद्ध नहीं होता है । क्योंकि सभी द्रव्यो का अन्य द्रव्यों के साथ उत्पादक भाव का अभाव है । यदि ऐसा न होता तो जीव का अजीवकर्तृत्व सिद्ध हो जाता, और कर्त्ता कार्य तो अन्योन्य सापेक्ष है, अत 'जीव अजीव कर्त्ता नहीं ।' यह जानना योग्य है । वह आत्मा अनादि काल से ही प्रतिनियत स्वलक्षण ज्ञान के आवृत रहने से स्वपर के एकत्व अभ्यास के कारण कर्त्ता बना हुआ, प्रकृति निमित्त उत्पत्ति विनाश को प्राप्त होता है । अर्थात् जन्मता मरता है । तथा प्रकृति भी शरीरादि जड भी उत्पत्ति विनाश को प्राप्त होती है । इस प्रकार आत्मा व प्रकृति का कर्त्ता और कार्य मे भाव अभाव भी अन्योन्य निमित्त नैमित्तिक भावों द्वारा है इससे दोनों का ही पारस्परिक सम्बन्ध होता है, और इसी से ससार-जन्ममरण है । तथा इसी कारण से चेतन का कर्त्ता कर्म व्यवहार है ।

जब तक यह आत्मा प्रतिनियत स्वलक्षण के अज्ञान से उदयागत प्रकृति विपाक को स्वत्वरूप से भोगता हुआ, आत्मा के बन्ध होने के निमित्त मिथ्यात्वादि को नहीं छोडता, तब तक स्वपर के एकत्व का ही ज्ञायक रहता है, और स्वपर के एकत्व निर्धारण के कारण मिथ्यादृष्टि रहता है अथवा स्वपर की एकत्व परिणति से ही असयत बना रहता है । तथा तब तक ही पर और आत्मा के एकत्व का अभ्यास करने से

पर कर्त्ता होता है । और जब यही आत्मा प्रतिनियत स्वलक्षण निज ज्ञानादि से प्रकृति और उसके विपाक को परत्व से जानता हुआ, बन्ध के निमित्तों का परित्याग कर देता हैः तब स्व पर को स्व ज्ञान द्वारा भिन्न जानने वाला हो जाता है । और उसी प्रकार के निर्द्धारण से सम्यग्दृष्टि बनता है । तथा स्वपर के विभाग की परिणति से सयत-सयमी बन जाता है । और तभी स्वपर के एकत्व का अभ्यास न होने से पर का अकर्त्ता होता है ।

कर्तृत्वं भुञ्जकत्वं च पराणां न स्वभावजा ।
अज्ञानजं परिणामं ज्ञानोदये निवर्त्तते ॥१॥

अर्थः—परवस्तुओं का कर्त्तृत्व और भुञ्जकत्व आत्मा के स्वभाव से नहीं होता, वह भाव-कर्त्ता भोक्ताभाव तो अज्ञान से उत्पन्न हुआ परिणाम है जो ज्ञान से ही अथवा ज्ञान का उदय होने पर हटता है ।

अन्नाणी कम्मफलं णियरुवं जाण भुंजेइ ।
नाणी कम्मविवागं भुंजंतो नो रमइ तत्थ ॥६॥

व्याख्याः—वास्तव में अज्ञानी शुद्ध आत्मज्ञान के अभाववश स्वपर के एकत्व ज्ञान से और स्वपर की एकता के निर्द्धारण (निश्चय) से तथा स्वपर की एकत्व परिणति से प्रकृति स्वभाव मे स्थित होने के कारण प्रकृति स्वभाव को अहंतया (मै रूप) अनुभव करता हुआ कर्मबन्ध करता है । ज्ञानी शुद्ध आत्मज्ञान के सद्भाव से स्वपर के विभाग ज्ञान से, वैसा ही निर्द्धारण करने से और स्वपर की एकत्व अपरिणति से प्रकृति-जड़ स्वभाव से दूर हटा हुआ होने से, शुद्ध आत्मस्वभाव को ही अहंतया अनुभव करता हुआ, कर्मफल के उदय को ज्ञेयमात्र रूप जानता है । उस कर्म का अहंतया अनुभव नहीं करता । अर्थात् शुभाशुभ उदय मे ऐसा अनुभव नहीं करता कि मैं सुखी दुःखी हूँ । अतः उस आत्मज्ञानी के वेद्यमान कर्म होने पर भी अव्यापकता होने से वह अवन्धक ही रहता है । अज्ञानी तो विपाक भोग मे रमण से नित्य बन्धक होता है । ज्ञानी

जो कि स्वात्म-गुणो मे रमण करता है, कदापि बन्धक नहीं बनता । यही कहते हैं —

अज्ञानी तु विपाक भोगरमणान्नित्य भवेद् बन्धको,
ज्ञानी स्वात्मगुणेपु रम्य रमणी नो जातुचित् बन्धक
इत्येव नियत विभज्य विबुधैरज्ञानता त्यज्यता,
शुद्धे स्वात्मधने रमन्ति निपुणा सेवन्ति सज्ज्ञानताम् ॥१॥

अर्थ —अज्ञानी तो विपाक भोग मे रम जाने से सदा बन्धक रहता है, और ज्ञानी स्वात्म-गुणो मे रमकर उन्हीं मे रमण करता है, अत वह कदापि बन्धक नही होता । ऐसा निश्चय से है अत पण्डितजन स्वपर का विभाग करके अज्ञानता का परित्याग करें । निपुण व्यक्ति वे ही है, जो अपने शुद्ध आत्म-धन मे रमते है और उत्तम ज्ञान का अभ्यास करते है, या सेवा करते है ।

जैसे यहाँ ससार मे विषधर (सर्प) शर्करामिश्रित दुग्ध पिलाने पर भी विषभाव का परित्याग नहीं करता, वैसे ही निश्चित रूप से अभव्य जीव अनेक शास्त्रो का अभ्यास कर लेने पर भी मिथ्याज्ञान से अज्ञानी होने के कारण पुद्गल भोगित्व से विरक्त नहीं होता । ज्ञानी तो यथार्थ श्रुतज्ञान लक्षण है, शुद्ध अत्मज्ञान के सद्भाव से परपुद्गल-जड से अत्यन्त विरक्त होने के कारण परभोगित्व को स्वय ही छोड देता है । मधुर अथवा कटुक उदय मे आये कर्म फल का ज्ञाता होने से केवल ऐसा जानता है, न कि उन्हें अहतया अनुभव करता है । अत ज्ञानी स्वरूप मे ही रमता है । वास्तव मे ज्ञानी कर्मचेतना शून्यत्व द्वारा व कर्मफल शून्यत्व से स्वय अकर्तृत्व रूप होने से और अवेदित्व होने से न कर्म करता है, न वेदता है, किन्तु ज्ञान चेतनामयत्व से केवल ज्ञातारूप होने से कर्मबन्ध और कर्मफल को वह शुभ हो या अशुभ, मात्र जानता है । स्वामित्वभाव से ग्रहण नहीं करता, अत अबन्धक है ।

दिट्ठि जहेह णाण अकारय तह अवेदय चेव ।
जाणाइ अ बध मुक्ख कम्मुदय निज्जर चेव ॥७॥

व्याख्याः—जैसे इस लोक मे दृष्टि दृश्य से अत्यन्त विभक्त (पृथक) होने से उस दृश्य को करने या वेदने मे असमर्थ होने के कारण दृश्य को न करती है, न भोगती है । क्योकि यदि कर्त्तृत्व भोक्तृत्व माना जाय तो अग्नि के देखने से सन्धुक्षकवत् (लोहार की भाति) स्वय अग्नि जलाने वाले को भी लोह पिण्डवत् उष्णता के अनुभवन का दुर्निवारत्व प्राप्त होगा । किन्तु दृष्टि का स्वभाव मात्र दर्शन करना है; अतः वह सर्व को केवल देखती है । वेसे ही ज्ञान भी स्वय ज्ञायक होने से कर्म से अत्यन्त विभक्त (पृथक) होने के कारण निश्चय से कर्म को करने और वेदने मे असमर्थ होने से, न कर्म करता है और न वेदता है, किन्तु केवल ज्ञान मात्र स्वभाव से बन्ध को या मोक्ष को जानता है । निर्जरा को भी जानता है । और जो आत्मा को कर्त्ता रूप से अज्ञान के कारण जानता है, उसके सामान्य जनवत् न निर्जरा है न मोक्ष, केवल बन्ध ही है ।

अण्णाणी मूढप्पा परदव्वं अप्पयं तु मन्नेति ।
नाणी जहट्ठबोही आयसहावं नियं भणइ ॥८॥

व्याख्याः—अज्ञानी विमूढ आत्मा परद्रव्य को 'यह मेरा है' ऐसा देखते मानते है । ज्ञानिजन तो–जो निश्चय से यथार्थ प्रतिबुद्ध है; वे अणुमात्र परद्रव्य को भी 'यह मेरा नहीं है' ऐसा देखते हैं । जैसे इस लोक में कोई व्यवहार मूढ व्यक्ति–जो अन्य ग्राम मे रहने वाला है, वह पराये ग्राम को 'यह ग्राम मेरा है इस रुप से देखता हुआ मिथ्यादृष्टि और झूँठा–असत्यभाषी है । वैसे ही अशुद्ध आत्मा व्यवहार मूढ़ होकर परद्रव्य को 'यह मेरा है' ऐसे देखे तो वह भी परद्रव्य को अपना करता हुआ मिथ्यादृष्टि ही है । अतः तत्वज्ञानी पुरुष सम्पूर्ण परद्रव्य को 'यह मेरा नही' यह जानकर परद्रव्य कर्तृत्व के व्यवसाय से मुक्त है; अतः वह सम्यग् दर्शन वाला है ।

एकस्य वस्तुनो नान्यः कर्त्ता भवति कर्हिचित् ।
परानुगत चैतन्यो विभावं प्रकरोत्ययम् ॥३॥

अर्थ —किसी एक की वस्तु का कर्त्ता अन्य कभी नहीं होता, किन्तु यह चैतन्य परानुगत बना हुआ है, इससे विभाव का कर्त्ता बना हुआ है। वास्तव मे ही नहीं, किन्तु परानुगत होने से स्वय को कर्त्ता मान रहा है।

अत मिथ्यादृष्टि की चेतना वीर्यादि की स्वक्षयोपशमीभूत होने से वह परभावादि मे स्वामित्व भोक्तृत्व आदि करता हुआ, शुभाशुभ विभाव से इष्टता अनिष्टता करता हुआ रागद्वेष रूप से चेतना को परिणत करता हुआ रागद्वेष रूप भाव कर्म का कर्त्ता होता है। भाव कर्म को प्राप्त हुआ स्वक्षेत्रगत पुद्गलों को आत्म-प्रदेशो के साथ लोलीभूत (एकरूप) करता है। इस से कर्म का कर्त्ता हो गया। वही आत्मा सम्यक्त्वी होने पर स्वचेतना वीर्यादि को स्वगुणादि मे नियुक्त करता हुआ पर का अग्राहक होने से अभिनव कर्मो का अग्राहक होता है। इस प्रकार वर्द्धमान (वढ़ते हुये) अग्राहक भाव वाला आत्मा सर्व सवक्षयोपशमज गुण परिणाम को स्वरूपानुग करता है, तव सर्वथा सवरी होता है। ऐसा जानकर परभाव से स्वशक्ति का रोधन नहीं होने देता और आत्मा शुद्ध बनता जाता है। यह सिद्धान्त है।

जैसे शिल्पी-स्वर्णकार आदि कुण्डलादि परद्रव्य परिणामात्मक कर्म हथोडे आदि से करता है, वह परद्रव्यपरिणामात्मक साधनों से करता है। ग्राम्य जनादि परद्रव्य परिणामात्मक कुण्डलादि का लाभ और फल एकद्रव्य से भोगता है नकि अनेक द्रव्यत्व से। स्वर्णकार अन्यत्व होने पर भी बनाने मे तन्मय होता है, फिर निमित्त नैमित्तिक भाव मात्र से ही उसमे कर्त्ता कर्म और भोक्तृत्व व्यवहार है। उसी प्रकार आत्मा भी पुद्गलद्रव्य परिणामात्मक मन वचन काया रूप साधनों से पुद्गल परिणामात्मक पुण्य-पापादि कर्म करता है। पुद्गल द्रव्यपरिणामात्मक योग—साधन ग्रहण करता है। पुण्यपापादि कर्मफल जो सुख दुखादि पुद्गल द्रव्य परिणामात्मक है, उन्हें भोगता है। अनेक द्रव्यत्व होने पर भी एकत्व तन्मय होता है। अत निमित्त मात्र से ही उसमें कर्त्ता कर्म का और भोक्ता भोग्य का व्यवहार है। और जैसे वह शिल्पी करने की

इच्छा से चेष्टा करता हुआ कुण्डल बना लेता है और पारिश्रमिक फल भोगता है । वैसे ही आत्मा भी करने का इच्छुक बना हुआ चेष्टा रूप कर्म को आत्म-परिणामात्मक करता है और उसका फल भी एक द्रव्यत्व से भोगता है, अन्यत्व होने पर तन्मय नहीं हो सकता । अतः परिणामीभाव से उसके कर्त्तृत्व भोक्तृत्व हो गया है फिर भी वह उसका धर्म नहीं, यह आशय है । जो वस्तु अन्य है; वह अन्य वस्तु स्वय से अतिरिक्त वस्तु को नहीं कर सकता; यद्यपि व्यावहारिक दृष्टि से वैसा दिखता है, परन्तु निश्चय से वैसा कुछ हैं नहीं । इसको समझने के लिए निम्नाङ्कित दृष्टान्त को लीजियेः—

जैसे खड़िया श्वेतगुण युक्त है, वह भित्ति (दीवार) आदि पर लगाई जाती है; दीवार को लोग श्वेतभित्ति कहते हैं; तथापि भित्ति भित्ति है, खड़िया खड़िया ही । इसी प्रकार पुद्गलादि के संसर्ग से जीव सकर्मकत्त्व को प्राप्त होने पर भी जीव जीव ही है और कर्मस्कन्ध पुद्गल । कोई भी द्रव्य द्रव्यान्तरत्व को प्राप्त नहीं होता । अर्तात् अन्यद्रव्यरूप नहीं बनता । आत्मा के दर्शनादि गुणों का घात आत्मा के परकर्तृत्व भाव मे होता है । अतएव परकर्तृत्व भाव को ही निवारण कर देना चाहिये और वह परकर्तृत्व का भाव परभोक्तृत्व भाव के जले जाने पर ही जाता है ।

णाणस्स दंसणस्स य भणिओ घाओ तहा चरित्तस्स ।
ण तहा पुग्गलदव्वस्स को वि घाओ जिणुद्दिट्ठो ॥९॥
जीवस्स जे गुणा केई णत्थि खलु ते परेसु दव्वेसु ।
तम्हा सम्मादिट्ठस्स तत्थि रागो हु विसयेसु ॥१०॥
रागो दोसो मोहो जीवस्सेव अणण्ण परिणामा ॥
एएण कारणेणं सद्दाइसु णत्थि रागाइ (रागादि) ॥११॥

व्याख्याः—त्रिकला (रत्नत्रयी) जहाँ होती है, वहाँ वहाँ उसके ध्यान से नष्ट होती है । जैसे—दीपक का घात होने पर प्रकाश भी नष्ट हो

जाता है । जिसमे जिससे जो होता है, वह उसका घात होने पर नष्ट होता है । जो जिसमे जिससे नहीं होता, वह उसके नष्ट होने पर भी नष्ट नहीं होता । जैसे–प्रदीप के नष्ट होने पर घट नहीं नष्ट होता और घट के नष्ट होने पर प्रदीप नष्ट नहीं होता । क्योंकि दोनों अन्य अन्य है । एक दूसरे के गुण नही । ठीक इसी प्रकार आत्मा के ज्ञान दर्शन चारित्रादि धर्म पुद्गलद्रव्य के नष्ट हो जाने पर भी नष्ट नहीं होते, न दर्शनज्ञानादि का घात होने पर पुद्गलद्रव्य नष्ट होता है, एव दर्शन ज्ञान–चारित्र पुद्गलद्रव्य मे नही होते । यह सिद्ध हुआ, अन्यथा पुद्गल के नष्ट होने पर ज्ञान दर्शन का और ज्ञान–दर्शन का घात होने पर पुद्गलद्रव्य का घात दुर्निर्वार होता । क्योंकि इस प्रकार जो जितने कुछ गुण जीव के हैं, वे सभी परद्रव्यों मे नहीं है । प्रश्न होता है कि यदि ऐसा है, तो सम्यग् दृष्टि के विषयादि मे राग कैसे होता है ? जब कि राग द्वेष, जीव का स्वरूप नहीं है । तब रागद्वेष के भाव कहाँ से उत्पन्न होते है ?

इसका उत्तर देते है —ज्ञान–दर्शनादि गुण जीव से अविभक्त है, इसके आवरण के क्षयोपशम से विशेष सामान्य उपयोग की जो प्रवृत्ति होती है, वह कषायोदय से कलुषित की गई होती है, परभाव भोक्तृत्व द्वारा शुभाशुभ परभाव विभाग से प्रवृत्त होती हुई, इष्टानिष्ट रूप से जानी जाती हुई, रागद्वेष परिणतिरूप होती है । अत रागादि पुद्गलगुणो का भी, जीव के मूल स्वभाव से भिन्नत्व है वे जीव के स्वभाव से मूल गुण नहीं, अपितु पुद्गल के ही स्वाभाविक गुण है जो जीव गुण रूप चेतना है, वही पर सयोग से तथारूप परिणत होती हुई रागादि–रूप हो गई है, इसी लिये इन्हे रागादि को अनन्य परिणाम कहा गया है । क्योंकि ये जीव से अन्य–धर्मास्ति आदि ५ द्रव्यों मे नहीं मिलते । जीव मे ही प्राप्त होते है । कहा है —

रागद्वेषाविह हि भवत ज्ञानमज्ञानभावात्

तौ वस्तुत्वे प्रतिनियतदृशा दृश्यमानौ न किञ्चित् ।

सम्यग्दृष्टिः क्षपयति तत स्तत्व दृष्ट्या स्फुटं तौ,
ज्ञानज्योति र्ज्वलति सहजं येन पूर्णाचलाच्चिर्चः ॥१॥

अर्थः—इस जगत मे रागद्वेष, ज्ञान के अज्ञान भाव से होते है । अर्थात् मिथ्यात्ववश जब ज्ञान अज्ञानरूप बनता है; तब आत्मा रागद्वेषरूप दोष करता है । वे वास्तव मे निश्चयदृष्टि से देखने पर कुछ नहीं है । अर्थात् आत्मा के स्वय के नहीं । अतः सम्यग्दृष्टि उन्हें तत्त्वदृष्टि से स्पष्ट क्षय करता है; जिससे पूर्ण और अचल किरणों युक्त सहज ज्ञानज्योति प्रज्वलित हो जाती है ।

रागद्वेषोत्पादकं तत्त्वदृष्ट्या, नान्यद् भव्यं वीक्षते किचनाऽपि ।
जीवद्रव्योत्पन्नचैतन्यव्यक्ति रन्यद् द्रव्यासक्तितो जायते तौ ॥२॥

अर्थः—तत्वदृष्टि से देखने वाला तो इन रागद्वेष के भावों का उत्पादक स्वयं की ही अन्य–जड़ मे आसक्त वृत्ति को ही मानता है और उसे आत्मा का अहित करने वाला समझता है । अज्ञानवश जीव के चैतन्य की व्यक्ति राग द्वेष रूप से होती रहती है । अज्ञान–(जीव व–जड़ को एकरुप मानने की मिथ्या धारणा) जब दुर हो जाता है तो रागद्वेष स्पष्ट पृथक भासने लगते हैं ।

यहाँ शंका होती है कि यदि एक क्षेत्रगत पुद्गल आत्म–गुणों का आवरण करने वाले नहीं है; तो वे कर्मरूप से ग्रहण किये गये आवारक (ढँकने वाले) कैसे बन जाते हैं ?

इसका उत्तर देते हैः—कि जीव और पुद्गलों की पर–परणामिकता की परिणति निमित्त योग से है; इससे जीव, पुद्गलभोगासक्ति के निमित्त से रागद्वेष परिणति उत्पन्न करता है । निमित्त का सर्वथा त्याग कर देने पर राग द्वेष परिणति नहीं होती । रागद्वेष द्वारा गृहीत कर्मवर्गणा स्कन्धों मे ही आवारकता होती है । तब शका होती है कि क्षीण मोहादि मे परभोगित्व होने पर भी राग द्वेष का अभाव कैसे हो जाता है ? उत्तर यों हैः—उनके चारित्रगुण के सम्पूर्ण प्राग्भाव से पररमणता के स्थान पर स्वरमणता भाव

से भोगित्व है ? नकि परभोगित्व ? तब सयोगि केवली अघाति का उदय कैसे रहता है ? यह प्रश्न उत्पन्न होता है । इसका भी उत्तर देते हैं — अघाति का उदय अव्याबाधादि गुणों को आवृत करने रूप है नकि परभावानुभवनरूप । यह जानना चाहिये । और जैसे ब्राहमी आदि औषधियाँ भक्षण करने पर क्षायोपशमिकी बुद्धि की वृद्धि होती है और वृंताक (बैंगन) तरबूज दधि आदि खाने पर बुद्धि का ध्वस होता है । अत वैसे ही जीव और पुद्गल निमित्त रागादि योग से अन्य परिणति रूप परिणमते है । अत आत्म-सुखाभिलाषीजन परभावभोगित्व का परित्याग करदें ।

अन्न दविएण अन्न दवियस्स णो कीरइ गुणुप्पाओ ।
वत्थु सहावे सव्वे नियसहावे परिणमति ॥१२॥

व्याख्या —किसी भी अन्यद्रव्य के द्वारा अपने से अन्य द्रव्य के गुणों का उत्पादन नहीं किया जाता । यह सर्व द्रव्यों का वास्तविक स्वभाव है । सभी द्रव्य स्व स्वभाव मे ही परिणमते हैं । इस कारण परद्रव्य जीव के रागादि उत्पन्न नहीं करते । क्योंकि सभी द्रव्यों के गुणों का स्वभाव से ही उत्पाद होता है । अन्य द्रव्य के द्वारा अन्य द्रव्य के गुणों का उत्पादन कभी नहीं होता ।

अण्ण निमित्ता परिणमइ दव्वदुग तज्जणय सबधा ।
आवरणपय पुग्गल विभाव भाव च उवओगो ॥१३॥

सर्व-षट् द्रव्यों मे दो द्रव्य-जीव और पुद्गल अन्य परिणाम रूप परिणमते है और वह परिणमन अन्य निमित्त से होता है । जीव का उपयोग गुण पुद्गल निमित्त से रागद्वेष विभावतया परिणत होता है और पुद्गल जीव द्वारा गृहीत हुये जीव गुण-रोधक भाव को प्राप्त होते है यह सम्बन्ध तादात्म्य नहीं होता, किन्तु निमित्त नैमित्तिक योग से उत्पन्न होने के कारण इनका उत्पत्ति सम्बन्ध है । उत्पत्ति की आदि कहाँ से है ? उसे समयप्राभृत में इस प्रकार कहा है —

"नव नव निमित्त योगा राग दोसा नवनवा हुंति ।
तेणं साइसंता संतइं पडुच्चणाइया ॥"

अर्थः—पुत्र कलत्र धन भोगादि का नया नया संयोग तथा वियोग होने पर नये नये रागद्वेष उत्पन्न होते हैं । क्योंकि अनादि काल से वे ही सदा सन्तति के पीछे–अर्थात् एक के पश्चात सदा एक ही मिलते हैं । यहाँ पर जो एकान्त से रागादि परभावों को निमित्तोद्भव कहते हैं; वह असत्य है । क्योंकि सिद्धों के भी जो आकाश प्रदेशो मे स्थित है; उनके आकाशप्रदेश स्थित वर्गणाओं के बँधने का प्रसङ्ग हो जायगा और अतिव्याप्ति दोष की प्राप्ति हो जाती है सो अलग । और वे कई व्यक्ति जो एकाँत से पुद्गलनिमित्त के बिना रागादि को आत्मोद्भव कहते हैं; वह भी असत्य हैं क्योकि रागद्वेष जीव के स्वभाव मे नही मिलते हैं । अतः पुद्गल सग के निमित्त से जीव के ज्ञान–दर्शन उपयोग रागद्वेषतया परिणत होते हैं । पुद्गल सग का अभाव हो जाने पर तो आत्मा वीतरागत्व को पा जाता है । उसे इस दृष्टान्त से स्पष्ट करते हैः—

जैसे मृतिका जल के योग से द्रवत्व को और 'अग्नि के योग से भस्मत्व को प्राप्त हो जाती है । वही मिट्टी कुम्भकार का योग पाकर चक्र दण्ड चीवर के निमित्त से घट के आकार मे परिणत हुई अग्नि से पककर चिरकाल तक जलाधारत्व (जल धारण करना) करती है । उसी प्रकार पुद्गलस्कन्ध भी जीव के प्रयोग से कर्मतया परिणत हुये ज्ञानादि गुणों के आवरणत्व रूप से परिणमते हैं । यहाँ यह परिणाम 'जीव और पुद्गल' उभयजन्य है । जैसे परमाणु वर्णादि गुणचतुष्क स्वरूप है । (एक परमाणु मे एक गन्ध एक रस और दो स्पर्श होते है ।) परमाणु मे शब्दादि धर्म नही है; तथापि बहु परमाणु मिलकर स्कन्धरूप बनते हैं; तब शब्दादितया परिणत हो जाते हैं । परमाणुओं मे शब्दत्व तादात्म्य धर्म से नहीं है । किन्तु वह उत्पत्तिरुप धर्म है । इत्यादि स्वतः तर्क करके समझने योग्य है ।

वण्णाइ सुह असुहा न राग दोसस्स कारगा हुति ।
तस्स निमित्ते आया कत्ता होऊण परिणमइ ॥१४॥

व्याख्या —शुभ या अशुभ वर्णादि पुद्गल रागद्वेषादि के कारक नहीं होते, उस पुद्गल के निमित्त से आत्मा कर्त्ता बनता हुआ, चेतना को इष्टानिष्ट रूप से व्याप्त करता हुआ अर्थात् चेतना को व्यवहित करता हुआ रागादि का कर्त्ता होता है । अत वे शुभाशुभ पुद्गल के निमित्त से उत्पन्न होने वाले है । इसलिये निमित्त का परित्याग होने पर कर्तृत्व भी नहीं रहता । एतदर्थ परभाव का ग्रहण व भोग दोनों का त्याग ही श्रेय है । और उस परभाव का त्याग सम्यग्ज्ञान पूर्वक पश्चात्तापादि प्रतिक्रमण से होता है ।

कम्म ज पुव्वकय सुहासुह तो निवत्तए अप्पा ।
जो विणिवित्त चेयणो सो पडिक्कमइ सव्व दोसाओ ॥१५॥
कम्म ज सुहमसुह जम्मि भावम्मि बज्झइ भविस्स ।
ततो अकारगत्ते पच्चक्खाणी हवइ आया ॥१६॥
ज सुहमसुहमुदिन्न सतमकज्ज तु निदणाजुत्तो ।
जाणइ निवित्तमाणो सो आलोयणगओ जीवो ॥१७॥
निच्च पडिक्कमतो पच्चक्खतो तहावलोयतो ।
विगलि अ कम्मपवाहो निम्मल चरणो हवइ चेआ ॥१८॥

व्याख्या —पूर्वकृत कर्म के शुभाशुभ विपाक से जो कर्मरूप है, उससे जो आत्मा निवृत्त होता है, वह प्रतिक्रमण करने वाला होता है । पूर्वकृत कर्म भोग स्वामित्व से धीरता से विनिवृत्त हुआ आत्मा सर्व दोषों से हट जाता है । भविष्य मे शुभाशुभ कर्म परित्याग परिणामवान् उस कर्म के अकर्तृत्व रुप परिणत हुआ प्रत्याख्यानी होता है । अर्थात् जिन भावों मे कर्म बँधते हैं उन भावों से हटकर भविष्य के लिये उनका प्रत्याख्यान कर देता है । जो शुभाशुभ कर्म उदयगत तथा सत्तागत हैं

विकल्पों का प्रतिक्रमण करके अर्थात् उनसे हटकर । फिर वर्त्तमान काल की अशुद्धता को देखता हुआ, न करता हूँ, न कराता हूँ न करते हुये का अनुमोदन करता हूँ । मन से, वचन से और काया से, इस प्रकार त्रिविध त्रिविध रूप प्रथम भग से, पुनः एकोनपंचाशत् भंग प्रकार से सदोष का निषेध करता हुआ, आलोचना रूप प्रायश्चित करता हुआ वर्तमान स्वशक्ति के विशोधन से निर्मल स्वात्म-स्वभाव वाला विशुद्ध आत्मा स्व आत्मा मे रमण करने वाला बनता है । फिर आगामिकाल की विशुद्धि के लिये—'न करूँगा, न कराऊँगा और न करने का अनुमोदन करूँगा, मन वचन और काया से' । इस प्रकार भाविकाल मे परभाव करने का प्रत्याख्यान किया हुआ समस्त कर्म सम्मोह को हटा देने वाला आत्मा स्व समवाय सम्बन्ध से सम्बद्ध आत्मा मे स्वकार्य भाव मे सदा आत्मा से वर्तता है । इस प्रकार त्रैकालिक परभाव स्पर्श को दूर करके निर्विकार अपने सहज चैतन्यभाव का ही अवलम्बन करता है । और पर की अशुद्धता का विभाग करके सांसर्गिक अशुद्धता को छोड़ने वाला होता है । उसके लिये कर्मफल सन्यास भावना करता है:—'कर्मविषवृक्ष के फल नष्ट हो जायँ ।' मैं उनका कर्त्ता नहीं हूँ' न भोक्ता हूँ, मै स्वरूप का कर्त्ता भोक्ता हूँ ।' अतः मैंने यह नहीं किये, मैं इनके संसर्ग भाव का धारक नहीं हूँ । न मै इस पुद्गल रूपमति श्रुत अवधि मनःपर्याय केवलज्ञानावरणीय फल को भोगता हूँ । पुद्गलस्कन्ध मेरा स्वरूप नहीं, मै तो स्व के अस्ति स्वभाव का, व अपने ज्ञानगुण का जो स्व पर का परिच्छेदक ज्ञायक है' भोक्ता हूँ ।

मै चक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शनावरणीय कर्म को नहीं भोगता । समस्त स्वद्रव्य और परद्रव्यों के सामान्य अवबोधक दर्शन गुण का भोक्ता हूँ । न मै सामान्य-विशेष उपयोग रोधक निद्रा पचक के फल को भोगता हूँ क्यों कि वह मेरा अभोग्य है । यहाँ कोई प्रश्न करें कि

आवरणीय कर्म नव प्रकार का है, निद्रा पचक को भिन्न किस कारण कहते हो ? उसे उत्तर देते है कि—ज्ञानावरण ५ और दर्शनावरण ४ ऐसे नव आवारक प्रकृतियाँ है, और ये ज्ञान-दर्शन-की आवारक है। निद्रापचक मे तो इनके क्षयोपशम से समुत्थ उपयोग रोधकत्व ही है। आवारकत्व नहीं, अत भिन्नता जाननी चाहिये। मै साता असाता वेदनीय कर्मफल को नहीं भोगता। मै तो स्वात्म द्रव्य व्यापक, अभेद रुप आत्मानन्द का भोक्ता हूँ। न मैं मिथ्यात्व मोहनीय, मिश्रमोहनीय, सम्यक्त्वमोहनीय का फल भोगता हूँ। इन प्रकृतियो का फल यथार्थ निर्द्धारात्मक शक्ति को रोकना और अतिचारादि हैं। मै तो स्वय को स्वरूप से, पर को पररूप से, यथार्थतया निर्द्धारणादि स्वभावों का भोक्ता हूँ। न मैं अनन्तानुबन्धि क्रोध-मान माया लोभ रूप मोहनीय की प्रकृतियों का फल भोगता हूँ, क्यों कि ये शुद्ध क्षमा मार्दव आर्जव मुक्ति आदि की ध्वसक है, तथा शुद्धात्मधर्म साधकता के साधक व सिद्धों पर क्रोध ईर्ष्या वचना और परभाव इच्छा परिणाम की कारण-भूत हैं। न मैं अप्रत्याख्यान क्रोध मान माया लोभ के कर्मफल भोगता हूँ, क्यों कि ये सन्मार्ग साधकों को द्वेष ईर्ष्या कपट इन्द्रिय विषय भोगाशसा के हेतु हैं। मेरे शुद्ध समता रूप सामायिकात्मक स्वरूप के रोधक होने से न मै प्रत्याख्यानावरणीय क्रोध मान माया लोभ रुप कर्म फल का भोक्ता हू। क्षयोपशमीभूत चारित्र अविभाग प्रवृत्ति स्वरूपरमण मात्र के परिणामों के कालुष्य के हेतु होने से न मै सज्वलन क्रोध-मान माया लोभ के कर्मफल को भोगता हू। परभाव भोक्तृत्व व स्वरुप चलनत्वादि परिणामो के कारण होने से मै हास्य रति अरति शोक भय जुगुप्सा रूप कर्मफल को नहीं भोगता हूँ।

निर्विकार आत्म-चेतना के विकार के हेतु होने से मै स्त्रीवेद पुरुषवेद नपुसकवेद रूप कर्मफल को नहीं भोगता हूँ। मैं तो निष्कषाय निर्विकार

निर्मोह हूं । निर्मलात्म शक्ति रूप धर्म का भोक्ता हूं ।

न मै नरक, तिर्यग् मनुष्य देवायु रूप कर्मफल को भोगता हूँ । मै तो अविनाशी, अक्षय अवगाह अमरत्व धर्मो का भोक्ता हूँ ।

न मै नरक तिर्यग् मनुष्य देव गति रूप कर्मफल भोगता हूँ; मै तो शुद्ध अचल एक स्वात्म स्वरूप का भोक्ता हूँ ।

न मै एकेन्द्रिय द्वीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय पचेन्द्रिय जाति रूप कर्मफल को भोगता हूँ ये भवभ्रमणावस्था के हेतु हैं; मै तो स्वरूपगत स्वसत्तावस्थान रूप हूँ ।

न मै औदारिक वैक्रियक आहारक तैजस कार्मण, इन पाँच शरीरों का और औदारिक वैक्रियक आहारक अगोपांगो का फल भोगता हूँ । मै तो शरीर से असग अनाहारक स्वाधार गुणों का भोक्ता हूं ।

न मै बन्धनपचक सघातनपचक कर्मफल को भोगता हूँ, इनका कार्य तो आहारादि पर्याप्ति-गृहीत पुद्गलों का आकर्षण, और उन्हें शरीरादि रुप मे बाँधना है । वह मेरा कार्य नहीं । मै तो प्राग्भावीभूत स्वज्ञानादि गुणों का ही प्रवर्त्तक हू ।

न मै छह संस्थान, और छह सहनन रूप कर्मफल भोगता हू । क्योंकि ये पुद्गलरूप शरीर के कर्मविपाक की शुभाशुभता के हेतु हैं । मै तो पर-पुद्गल की शुभाशुभता से विप्रमुक्त अनन्त चिदानन्द अशरीरभाव का भोक्ता हूं ।

न मै पाँच वर्ण दो गन्ध पाँच रस और आठ स्पर्श रूप कर्मफल को भोगता हूँ क्योंकि ये तो पुद्गलों के गुण हैं शरीराश्रित है । मैरे अमूर्त्त गुण के रोधक हैं । मैं तो अवर्ण अगन्ध अरस अस्पर्श्य अमूर्त्त स्वभाव हू ।

न मै नरक तिर्यक् मनुष्य देवानुपूर्वी रूप कर्मफल को भोगता हू, और न शुभाशुभ विहायोगति रूप कर्मफल को भोगता हूँ । मै तो अकम्प, अक्रिय अचल स्वरुप का भोक्ता हूं ।

१ आगे की प्रकृतियो का वर्णन नही है । होना चाहिये ।

मैं पराघात, स्वासोच्छ्वास, आतप, उद्योत, अगुरु-लघु, निर्माण व तीर्थकर रुप कर्मफल को नहीं भोगता हूँ । इनमे पराघात का उदय परजीव की सामर्थ्य का उच्छेदक है । मै किसी का भी उच्छेदक नही ।'

मै त्रसदशक और स्थावरदशकरूप कर्मफल को नहीं भोगता हूँ । ये तो आत्मा को एक अवस्था से दूसरी अवस्था प्राप्त कराते है । मैं तो सदा अवस्थित हूँ ।

मैं उच्च नीच गोत्र रूप कर्मफल को नहीं भोगता हू । मैं तो सकल स्वरूप से व्यक्त होने से सभी जीवाजीवादि द्रव्यों की त्रैकालिक परिणति का ज्ञायक होने से व मुख्यद्रव्य होने से समयसाररूप हूँ ।

मैं दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय, वीर्यान्तराय रूप कर्मफल को नहीं भोगता हूँ । मै तो परमदान-लाभ भोगोपभोग वीर्य शक्तिमय हूँ ।

इस प्रकार समस्त कर्मफल का सन्यास करके 'शुद्धात्मस्वभाव रमणानन्दमय हू', ऐसा जानना चाहिये । ऐसी भावना करनी योग्य है ।

नि शेपकर्मरहित परम प्रकृष्ट
शुद्धात्मतत्वविशदत्व विलासशील
ईदृक् स्वरूप परिणामिक भावयुक्त
भोक्ता कथ भवति ? कर्म फलस्य चेता ॥४॥

अर्थ —सम्पूर्ण कर्म रहित, परम, प्रकृष्ट, शुद्ध आत्म तत्त्व की उज्ज्वलता मे विलास करने वाला इस प्रकार के स्वरूप पारिणामिक भावयुक्त आत्मा कर्मफल का भोक्ता कैसे हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता ।

पुन विपर्यास चेतना के हेतुभूत पाँच मिथ्यात्व—(आभिग्रहिक, अनाभिग्रहिक, अभिनिवेशिक, साशयिक और अनाभोग) को, पररमणास्वादरूप १२ प्रकार के असयम को, चेतना की कलुपता रूप पच्चीस कपायों के परिणाम को, प्रकटवीर्य चलनरूप मनोवाङ्काय के १५

भेद रूप योगो को, जो बन्ध के हेतु हैं उनका मै कर्त्ता नहीं हूँ । जो किया उसका मिथ्या दुष्कृत हो । वर्त्तमान मे करता नहीं हू-मनोवाक् काय व करण करावण अनुमोदन रूप से नहीं करता हूँ । अनागत करना नहीं, अतः प्रत्याख्यान करता हू । इस प्रकार निवर्त्तित आश्रव परिणाम वाला शुद्ध सवरमय मै हूँ । स्वरूपानन्द से तृप्त 'मै' कर्मविष-वृक्षों के फल नही भोगता हूँ । जो अनादिकाल से भोगे हैं । उस पर भोक्तृत्व भाव को अत्यन्त तत्त्वभावना के द्वारा विफल करके तत्त्वरसिक धीर-बुद्धिमान् जन ही छोड़ते हैं; अन्य नहीं । अतः स्वरूप रूचि, स्वरूपभासन, स्वरूप रमण की स्वधर्म मे एकत्व रूप से ही शुद्धात्मा की भावना करनी चाहिये । अब पुद्गल व अन्य अजीव द्रव्यों से पृथक्त्व का विचार करते हैः—

धम्माधम्मागासा पुग्गल दव्वाणि ते सपरिणामा ।
सजोग जाय भावा दुविहा वि न हुंति जीवत्तं ॥२२॥

व्याख्याः—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय मै नहीं हूं । और मुझसे अन्य जीव जो मुझसे भिन्न हैं, उनके परिणाम भी चेतनालक्षण है । पर वे भिन्न हैं । अन्य द्रव्य के सयोग से उत्पन्न जो राग द्वेष और कर्म नोकर्म भाव हैं उन रूप भी मैं नहीं हूं । बाधक साधक दोनो ही विभाव, मेरे सत्स्वरुप नहीं हैं । इस प्रकार सर्व परद्रव्यों के व्यतिरेक से व दर्शनादि जीव स्वभाव का अन्वय करने से व्याप्ति अतिव्याप्ति दोषों को छोड़ता हुआ, अनादि विभ्रम के मूल परसमय को उद्वमन करके स्वयं ही दर्शन ज्ञान चारित्र स्थितिमय स्व-समय को पाकर मोक्षमार्ग को आत्मा में ही परिणत करके सम्पूर्ण विज्ञानघन भाव को प्राप्त हुआ, हीन उपादानशून्य साक्षात् समय सारभूत परमार्थरूप एक शुद्ध ज्ञान अवस्थित देखना चाहिये ।

विमुक्त पर द्रव्यस्य शुद्धभावान्वितस्य च ।

कथमाहारकत्व स्यादेहभिन्नस्य चात्मन ॥५॥

अर्थ —समस्त परद्रव्यों से विमुक्त और शुद्धभाव सहित देहभिन्न आत्मा का आहारकत्व कैसे हो सकता है ?

जस्साऽमुत्तों आया न हु आहारगो हवइ कहवि ।

आहारो खलु मुत्तो जम्हा सो पुग्गलमओ अ ॥२३॥

व्याख्या —जिसको 'आत्मा अमूर्त है' ऐसा निश्चय है, वह आहारक किसी भी प्रकार नहीं होता है । आहार निश्चित रूप से मूर्त्त और पुद्गलमय है । वह न आत्मा है, न आत्मा का कार्य रूप है, और क्योंकि शुद्ध आत्मा परद्रव्य को किञ्चिन्मात्र भी न ग्रहण करता है, न छोडता है । वह पुद्गल, प्रायोगिक गुण सामर्थ्य से अथवा विस्रसिकगुण सामर्थ्य वाला है आत्मा तो ज्ञायक ही है । उसके द्वारा ग्रहण और छोडना अशक्य है । और ज्ञान तथा अमूर्त्त आत्मद्रव्य के मूर्त्त पुद्गल स्कन्धरूप आहारकत्व का सम्भव नहीं है । अत ज्ञानमय आत्मा के आहारकत्व नहीं होता, न शरीरादित्व होता है । अत मैं शरीर और पुद्गलाहारी दोनों ही नहीं हूँ । इस प्रकार ज्ञानादि शुद्ध आत्मा के देह ही नहीं होता है । अत देहादि की पवित्रता मोक्ष का कारण नहीं है । यही बात निम्न पद्य में है —

एव ज्ञानादिशुद्धस्य देह एव न विद्यते ।

अतो देहादि पावित्र्य नैव मोक्षस्य कारणम् ॥६॥

मोक्खपदे अप्पाण ठवेह त चेव झायहु निच्च ।

तत्थेव विहर णिच्च मा विहरसु अण्णदव्वेसु ॥२४॥

व्याख्या —अनादि काल से परद्रव्य मे राग द्वेषादि नित्य ही स्व-प्रज्ञा

दोष से रहते हैं । उन्हें स्वप्रज्ञा गुण से ही परद्रव्य से उसे दूर हटाकर दर्शन–ज्ञान–ज्ञान–चारित्र मे सदैव निश्चय रूप से आत्मा को स्थापित करो । तथा अन्य समस्त चिन्ताओं का निरोध करके एकाग्र होकर दर्शन–ज्ञान–चारित्र–रुप मोक्षपद का ही ध्यान करो । तथा सकल कर्मफल चेतना सन्यास से शुद्धज्ञान चेतनामय होकर दर्शन–ज्ञान–चारित्रमय मोक्षपद को ही जाग्रत करो । और आत्म द्रव्य स्वभाववश से प्रतिक्षण ज्ञान दर्शन चारित्र मे ही विचरो । तथा एक ज्ञान का अचल अवलम्बन लेता हुआ, ज्ञेयरुप से उपाधितया सर्व ओर दोड़ते हुये सभी परद्रव्यों मे भी मत विहार करो ।

अब द्रव्यलिङ्ग–रजोहरण मुखवस्त्रिका विषयक विचार करते हैं; । द्रव्यलिङ्ग मोक्ष का उपादान कारण नही, निमित्त कारण भी नहीं; किन्तु अपेक्षा कारणरूपत्व से सापेक्ष है । और जो रजोहरणादि लिग का अपलाय करते है नहीं होते ऐसा कहते हैं, वे भी नग्नत्वादि लिग कहते ही हैं; अतः अपेक्षा कारण लिग जानना चाहिये । कितने जीव भरत, मरुदेवी आदि लिग के बिना भी स्वात्म साधक हो गये हैं । इस विषय मे कहते हैः—

ववहारिओ पुण णओ दो वि लिंगाणि भणइ मुक्खपहो ।
निच्छय णओ ण इच्छइ मुक्खपहे सव्व लिंगाणि ॥२५॥

व्याख्याः—पुनः व्यावहारिक नय वाले, श्रमण श्रमणोपासक भेद से दो प्रकार के द्रव्यलिङ्ग को मोक्ष मार्ग कहते हैं । और निश्चयनय तो मोक्षपद मे सभी लिङ्गों को नहीं चाहता । वह तो विकल्पातिक्रान्त दृष्टि ज्ञप्ति प्रवृत्ति मात्र एक शुद्ध ज्ञान ही मुक्तिपथ है' ऐसा मानता है । 'उसी ज्ञान का स्वय शुद्धद्रव्यानुभवात्मकत्व होने से वही परमार्थ है । वही परमार्थ को परमार्थ बुद्धि से चेताता है–सचेत करता है । **वही** सर्वागम–सारभूत **शुद्धात्म** स्व[illegible] [illegible]ृत करता है । **सभी विकल्प**

जाने दो क्यों कि

सृत सर्वैर्विकल्पै र्यत्कार्याकार्य साधनम् ।
नाऽशुद्धेन निमित्तेन शुद्ध कार्यस्य साधनम् ॥२६॥

कारण से कार्य साधन करने वाले के अशुद्ध निमित्त से शुद्ध कार्य साधना नहीं होती । शुद्ध निमित्त से होती है । वास्तव मे जो परमात्मसारभूत भगवान् परमात्मा के विश्वप्रकाशत्व से समस्त सिद्धान्तों का प्रतिपादन होने से स्वय शब्द ब्रह्मायमाण इस शास्त्र को पढ़कर विश्वप्रकाशनसमर्थ, परमार्थभूत, चित्प्रकाशरूप आत्मा का निश्चय करता हुआ, अर्थ और तत्त्व दोनों से उसको पृथक रूप से जानकर उसी के अर्थभूत भगवान् में 'जो एक मात्र पूर्ण विज्ञानमय परम ब्रह्म है', सर्वप्रकार से स्थित होगा, वह तत्क्षण साक्षात् विजृम्भमाण चिद्एकरसनिर्भरस्वभाव मे सुस्थित, निराकुल आत्मरूपतया परमानन्द शब्द वाच्य, उत्तम उद्यतन अनाकुलत्व लक्षण सुख को स्वय ही प्राप्त करेगा ।

सर्व सिद्धान्तसार च शुद्धात्मतत्त्वालम्बनम् ।
अखण्ड निर्मल रूप साध्यसिद्धेश्च कारणम् ॥८॥

- अर्थ —सर्व सिद्धान्तों का सार यह है कि अखण्ढ निर्मल रूप वाले शुद्ध आत्मत्त्व का आलम्वन साध्य सिद्धि का कारण है ।

इस प्रकार शुद्ध आत्मत्त्व का आलम्बन ही मोक्ष मार्ग है । इस कथनरूप यह मोक्ष मार्ग कहा गया ।

॥ इति श्रीमद्देवचन्द्रगणि रचितेऽध्यात्मप्रबोधेऽपरनामदेशनासारे मोक्षप्रकाशको नाम नवमोऽधिकार ॥

॥ स्याद्वाद-ज्ञान निरूपण नाम दशम अधिकार ॥

अब शुद्ध आत्मा का आलम्बन स्याद्वाद ज्ञान से ही होता है; अतः वही कहा जाता है:—

अर्हत् सर्वज्ञ भगवान् के शासन का 'स्यादवाद', समस्त वस्तु तत्व का अस्खलित एकमात्र साधक है । और वह 'सर्ववस्तु अनेकान्तात्मक हैं ऐसा कहता है । क्योंकि सभी वस्तुओं का अनेकान्त स्वभाव है यहाँ तो आत्मद्रव्य-वस्तु मे ज्ञानमात्रतया अनुशासित किये जाने पर अन्य पर परिकोप नहीं, क्योंकि ज्ञानमात्र आत्मवस्तु का स्वयमेव अनेकान्तत्व है । उसमे स्याद्वाद में जो है वह 'वह नहीं' भी है । जो एक है, वही अनेक है । जो अनित्य है, वही नित्य भी है । जो भिन्न है, वही अभिन्न भी है । जो होना है वह न होना भी है । जो वक्तव्य है, वही अवक्तव्य भी है । इस प्रकार वस्तु के वस्तुत्व की निष्पादक परस्पर विरुद्ध दो शक्तियों का प्रकाशन अनेकान्त है । वह स्व आत्मा का ज्ञानमात्र है । तथा शास्त्र में कहा जाता रहा है । अतः चमकते हुये ज्ञान स्वरूप से तत्व से बाहिर अनन्त ज्ञेयतापन्न स्वरूप से अतिरिक्त पर रूप से अतत्व होने से सह क्रम रूप प्रवृत्त अनन्त चिदंश समुदयरूप अविभाग द्रव्य से एकत्व होने से अविभाग एक द्रव्य व्याप्त सह क्रम प्रवृत्त अनंत चिदंश रूप पर्यायों से अनेकत्व है । क्योंकि स्वद्रव्य क्षेत्र काल भाव मे होने की शक्ति का स्वभाववत्व मे सत्व है, और पर द्रव्य क्षेत्र काल भाव रूप होने की शक्ति का स्वमात्व मे असत्व है । अनादिनिधन अविभागैकवृत्तिमान् रूप से नित्यत्व होने से, क्रमप्रवृत, एकसमयावछिन्न, अनेकसामर्थ्यवृत्ति अंशपरिणमनत्व रूप से अनित्यत्व होने से, समस्तपर्यायो में अवस्थान रूप से अभिन्नत्व होने से उन्हें पर्यायों से कार्य-कारण के भेदरूप से भिन्नत्व

होने से प्रतिसमय कार्यकारणान्तरत्व से परिणममान स्वभाव होने रूप कारण से उसी परिणममान आत्मा को भी उसी में अवस्थान होने से अपरिच्युतवृत्ति के रूप न हो जाने के हेतु से, शब्द गोचरत्व धर्मत्व द्वारा कहने योग्य होने से, शब्द द्वारा अगम्य, और केवल ज्ञानगम्य स्वभावत्व के कारण न कहने योग्य होने के कारण, वह आत्मतत्त्व एक अनेकादि अनन्त धर्मपरिणामरूप ही प्रवर्त्तता है । यहाँ कोई शका करें कि यदि वस्तु स्वय ही अनेकान्त स्वभाव से परिणमती है तो अर्हत् भगवान् उसका साधनत्व रूप से अनुशासन क्यों करते है ? अर्थात् क्यों कहते है ? उसका उत्तर इस प्रकार है—यद्यपि वस्तु अनेकान्ततया परिणमती है, तदपि अज्ञानिजनों द्वारा नही जानी जा सकती, उन्हे जतलाने को ऐसा कहते है । वास्तव मे अनेकान्त उपदेश के बिना सत्ज्ञान की सिद्धि नहीं होती । पुन शका होती है कि अनेकान्तमय आत्मा को 'वह ज्ञानमात्र है' ऐसा व्यपदेश क्यों किया गया ? उत्तर–लक्षण प्रसिद्धि से लक्ष्य प्रसिद्धि के लिये ज्ञानमात्रतया व्यपदेश है । क्योंकि आत्मा का असाधारण गुण होने से ज्ञान ही आत्मा का लक्षण है । अत ज्ञान लक्षण की प्रसिद्धि से आत्मरूप लक्ष्य की प्रसिद्धि है ।

शका—अमूर्तज्ञान की प्रकर्ष से सिद्धि कैसे होती है ?

उत्तर—ज्ञान स्वसवेदनत्व से सिद्ध है, तथा अह प्रत्ययगम्य होने से प्रकर्षरूप से सिद्ध है, क्योंकि वह ज्ञान आत्मद्रव्य से अभिन्न है । अत ज्ञानमात्र मे अचलित रखी गई दृष्टि से क्रम अक्रम रूप से प्रवृत्त उस आत्मा के अविनाभूत अनन्त धर्म हो गये । जो कर्म जितना लक्ष्य है, वह उतना समस्त ही वास्तव मे—निश्चय से आत्मा है । इसलिये यहाँ आत्मा का ज्ञानमात्रतया व्यपदश किया है ।

शंका—भगवान् ने अनन्त धर्ममय आत्मा का ज्ञानमात्रत्व कैसे कहा है ?

उत्तर—परस्पर व्यतिरिक्त अनन्त धर्म समुदाय परिणामों के पयार्यमात्र भाव रूप स्वयं होने से भगवान् ने ज्ञानमात्रत्व कहा है । अतएव इस आत्मा के ज्ञानदर्शनमात्र भाव मे अन्तःपातिनी रहने वाली अनन्त शक्तियाँ प्रवृत्त होती हैं—प्रवर्त्तती हैं । और यहाँ 'ज्ञान दर्शन गुणमय ही आत्मा है' इस व्याख्या मे स्थिरतादि अनन्त भाव उस आत्मा की शक्ति रूप से ही विशेष प्रकार कहे गये हैं । वे शक्तियाँ अनन्त होने पर भी उनमे से कुछ, अन्य ग्रन्थों से प्राप्त हुई लिखी जाती हैः—

१—सामान्य विशेष स्वभाव गुणपर्यायपिण्डत्व की आधारस्वरुप द्रव्यत्व शक्ति ।

२—प्रति पर्याय मे उत्पाद व्यय रूप मे परिणमन होने से अनेक अवस्था होने पर भी उसी द्रव्यत्व अवस्थानरूप ऊर्द्ध प्रचय शक्ति ।

३—स्वजातिभिन्न द्रव्य मे भी तज्जातीयत्व स्थापन करने वाली, समयान्तर मे अनेक पर्याय होने पर भी उसी द्रव्य को स्थापनपरक तिर्यग् प्रचय शक्ति ।

४—अजड़ होने से एक मात्र चेतनता शक्ति ।

५—साकार उपयोगमयी ज्ञान शक्ति ।

६—अनाकार समाधि लक्षण सुख शक्ति ।

८—स्व स्व कार्य निवर्त्तन सामर्थ्यरूप वीर्य शक्ति ।

९—अखण्डित प्रताप, स्वातन्त्र्यशालित्वलक्षणा प्रभुत्व शक्ति ।

१0—सर्व स्वभाव व्यापक एकरूप विभुत्व शक्ति ।

११—विश्व का समस्त सामान्य भावाबवोध परिणाम वाली सर्वदर्शित्व शक्ति ।

१२—लोकालोक के विशेष भावावबोधिकात्मका ज्ञानमयी सर्वज्ञत्व शक्ति।

१३—ज्ञानरूप आत्मप्रदेश प्रकाशमान लोकाकार मात्र एक उपयोग लक्षण स्वच्छत्व शक्ति ।

१४—स्वय प्रकाशमान विशद स्व-सवेदनमयी प्रकाश शक्ति ।

१५—अन्य द्वारा अक्रियमाण सर्वज्ञेय को एकाकार परिणमन करने पर भी उसी प्रकार उपयोग प्रवर्त्तनरूप कार्य कारण शक्ति ।

१६—पर और आत्म निमित्तक ज्ञेय ज्ञान आकार ग्रहण ग्राहण स्वभाव रूप से परिणमन करने वाली पारिणामिकत्व शक्ति ।

१७—अन्यून अतिरिक्त स्वरूप रूपा नियतत्व शक्ति ।

१८—षट्स्थानपतित वृद्धि-हानि परिणत-स्वरुपनिष्ठत्व की कारण विशिष्टगुणात्मिका अगुरुलघुत्व शक्ति ।

१९—आत्मद्रव्य की हेतुभूत चैतन्यमात्र भाव-धारण-लक्षणा जीवत्व शक्ति ।

२०—क्षेत्रकाल में अनवच्छिन्न चिद्-विलासात्मिका सकुचित विकासन शक्ति ।

(अपूर्ण प्रति में इतनी ही शक्तियाँ लिखी होने से २० ही प्राप्त होती हैं । और भी हैं, क्योंकि चेतन की अनन्तशक्तियाँ हैं, ऐसा सर्वज्ञ देव का कथन है । ग्रन्थान्तरों से अन्य शक्तियाँ जानी जा सकती हैं ।)

परिशिष्ट (१)

श्रीमद् देवचन्द्र जी के नयचक्रसार मे आत्मा की शक्तियों का विवरण इस प्रकार हैः—

भिन्न-भिन्न पर्यायप्रवर्त्तनस्वकार्यकरणसहकारभूताः पर्यायानुगत परिणामविशेषस्वभावाः ते च के, १-परिणामिकता, २-कर्त्तृता, ३-ज्ञायकता, ४-ग्राहकता, ५-भोक्तृता, ६-रक्षणता, ७-व्याप्या व्यापकता, ८-आधाराधेयता, ९-जन्य-जनकता, १०-अगुरुलघुता, ११-विभूतकारणता, १२-कारंकता, १३-प्रभुता, १४-भावुकता, १५-अभावुकता, १६-स्वकार्यता, १७-सप्रदेशता, १८-गतिस्वभावता,, १९-स्थितिस्वभावता, २०-अवगाहक स्वभावता, २१-अखण्डता, २२-अचलता, २३-असगता, २४-अक्रियता, २५- सक्रियता इत्यादि स्वीयोपकरणप्रवृत्तिनैमित्तिका"उक्त च सम्मतौ" आरोशेपचारेण यद्यदपेक्षते तन्न वस्तुधर्मः उपाधिताभवनात् न चोपाधिर्वस्तु सत्ता इति ॥

अर्थ—हवे विशेष स्वभाव कहे छे । भिन्न-भिन्न जे पर्याय छे तेनु कार्य कारण पणे जे अवर्त्तन तेना सहकारभूत जे पर्यायानुगत परिणामी एवा जे स्वभाव ते विशेष स्वभाव कहिये । तेनां अनेक भेद छे । ते हरिभद्रसूरिकृत शास्त्रवार्त्तासमुच्चय ग्रथ मां कह्या छे ते कहे छे ।

१-सर्व द्रव्यने पोताना गुण समय समय मां कार्य करवे प्रवर्ते ते भिन्न-भिन्न परिणामे परिणमे ते सर्व पोताना गुण तेने कारणिक छे ते परिणामिकपणो कहिये २-तत्र कर्तृत्वं जीवस्य नान्येषां तिहां आत्मा कर्त्ता छे एटले कर्त्तापणो जीव द्रव्य ने विषे छे । "अप्पा कत्ता विकत्ताय" इति उत्तराध्ययनवचनात् ३-ज्ञायकता जाणपणानी शक्ति जीव ने विषे छे । ज्ञान

लक्षण जीव छे । ते माटे गिन्हइ कायिएण इति आवश्यक निर्युक्ति वचनात् ४-ग्राहक शक्ति पण जीव ने छे । गृह्णातीति क्रिया नो कर्त्ता जीव छे । ५-भोक्ता शक्ति पण जीव मा छे । "जो कुणइ सो भुजइ य कर्त्ता स एव भोक्ता" इति वचनात् ।१-रक्षणता, २-व्यापकता, ३-आधाराधेयता, ४-जन्य-जनकता तत्वार्थवृत्ति मध्ये छे तथा अगुरुलघुता, विभुता, करणता, कार्यता, कारकता, ए शक्ति नी व्याख्या श्री विशेषावश्यके छे । भावुकता तथा अभावुकता शक्ति ते श्री हरिभद्र सूरि कृत भावुक नामे प्रकरण मध्ये कहि छे ।

एम केटलीक शक्ति जैन ना तर्क ग्रन्थों जे अनेकान्त-जयपताका सम्मति प्रमुख मा छे तथा उर्ध्वप्रचय शक्ति अने तिर्यक् प्रचयशक्ति, ओघशक्ति, समुचितशक्ति, ए सर्व सम्मति ग्रथ ने विषे छे । तथा जे द्विगुणी आत्मा माने ते सर्वधर्म शक्ति रूपज माने छे तेणे दानादिकलब्धि अव्याबाधसुख प्रमुख शक्ति मानी छे । इहां व्याख्यान्तरे जे गुणकरण छे तेने कर्त्तादिक पणो ते सामर्थ्य छे, जाणवो देखवो ते कार्य छे, केटलीक शक्ति जीवमाज छे अने केटलीक पचास्तिकाय मध्ये छे ।

(श्री जिनदत्तसूरिग्रन्थ माला से प्रकाशित जीव विचारादि प्रकरण सग्रह पृ १२४-१२५ से उद्धृत)

परिशिष्ट (२)

अमृतचन्द्रसूरि कृत समयसारटीका के स्याद्वादाधिकार मे आत्मा के ज्ञान मात्र एक भाव के भीतर पड़ने वाली अनन्त शक्तियों मे से उदित होने वाली कुछ शक्तियों का वर्णन है जिनकी सूची इस प्रकार हैः—

१–जीवत्व नामा शक्ति, २–चिति शक्ति, ३–दृष्टि शक्ति, ४–ज्ञान शक्ति, ५–सुख शक्ति, ६–वीर्य शक्ति, ७–प्रभुत्व शक्ति, ८–विभुत्व शक्ति, ९–सर्वदर्शित्व शक्ति, १०–सर्वज्ञत्व, ११–स्वच्छत्व शक्ति १२–प्रकाश शक्ति, १३–विकासत्वशक्ति, १४– अकार्यकारण शक्ति, १५–परिणम्य–परिणामकत्व शक्ति, १६–त्यागोपदानशून्यत्वशक्ति, १७–अगुरु लघुत्व शक्ति, १८–उत्पाद–व्यय ध्रुवत्व शक्ति, १९–परिणामशक्ति, २०–अमूर्त्तत्वशक्ति, २१–अकर्तृत्वशक्ति, २२–अभोक्तृत्वशक्ति, २३–निष्क्रियत्व शक्ति, २४–नियत प्रदेशत्व शक्ति, २५–स्वधर्मशक्ति, २६–साधारण–असाधारण–साधारणासाधारण धर्मत्वशक्ति, २७–अनन्तधर्मत्व शक्ति, २८–विरुद्ध धर्मत्व शक्ति, २९–तत्वशक्ति, ३०–अतत्वशक्ति, ३१–एकत्वशक्ति, ३२–अनेकत्व शक्ति, ३३–भावशक्ति, ३४–अभाव शक्ति, ३५–भावाभाव शक्ति, ३६–भाव शक्ति, ४०–क्रियाशक्ति, ४१–कर्म शक्ति, ४२–कर्त्तृत्व शक्ति, ४३–करण शक्ति, ४४–सम्प्रदान शक्ति, ४५–अपादान शक्ति, ४६–अधिकरण शक्ति, ४७–सम्बन्ध शक्ति ।

इन शक्तियों का विशेष विवेचन श्री गणेशप्रसाद वर्णी ग्रंथमाला से प्रकाशित 'समयसार' के पृ. ३३२ से ३३५ तक द्रष्टव्य है ।

अध्यात्म प्रबोध

प्रशस्ति

सुविहितखरतरगच्छे सवेगिपरम्परायां श्रीमत्क्षमाकल्याण महामहोपाध्यायपट्टानुपट्टे श्रीमत्सुखसागरमहोदयाना आज्ञानुवर्त्तिनी स्वनामधन्या महापुण्यशालिनी स्व प्रवर्त्तिनीश्री पुण्यश्रीमहोदयाना प्रशिष्या एव स्व प्रवर्त्तिनीश्री ज्ञानश्री महानुभावाना शिष्या तथा स्व जैनकोकिला व्याख्यान-भारती आदि अनेक विरुदावलिसमन्विता श्री विचक्षणश्री महाराजस्य पट्टेसस्थिता वर्त्तमान आचार्यदेव श्रीमज्जिन उदयसागर-सूरीश्वराणामाज्ञानुवर्त्तिनी सज्जनश्रिया अनूदिता श्रीमद्देवचन्द्रगणिरचित 'अध्यात्मप्रबोध' अपरनाम 'देशनासार' नाम ग्रन्थोऽय समाप्तिमगमत् श्रेयोभवतु-पाठकानाम् ।

आत्मानुभवी द्रव्यानुयोगी

उपाध्याय श्रीमद् देवचन्द्रजी म. द्वारा विरचित



रूपान्तर कारिका

प्रवर्तिनी आर्य्या श्री सज्जनश्री जी म. सा.

श्री द्रव्यप्रकाश सार

प्रारम्भिक वक्तव्य

विश्व के समस्त दर्शन इन तीन आधारभूत प्रश्नो पर ही अवलम्बित हो निर्मित हुए है वे तीन प्रश्न हैं—(१) जगत् क्या है ? (२) आत्मा क्या है ? (३) परमात्मा क्या है ? प्रत्येक दार्शनिक ग्रन्थ मे विशेषतया इन्ही तीन की विशेष रूप से व्याख्या की गयी है, इन्ही का उत्तर देने का प्रयास किया है और जिज्ञासु की शकाओं का समाधान भी यथाशक्ति किया गया है।

भारतीय दर्शनों मे 'चार्वाक दर्शन' के अतिरिक्त सभी दर्शन अध्यात्मवादी हैं। उनका मुख्य लक्ष्य परमात्मस्वरूप बनना या ब्रह्मलीन हो जाना है। आत्मा के वास्तविक स्वरूप को समझ लेने और उसे प्रकट करने के लिए ही जगत् का स्वरूप भी समझना अनिवार्य है। जैन दर्शन जगत् को षड्द्रव्यमय मानता है। छह द्रव्य इस विश्व मे सदा शाश्वत–विद्यमान रहते हैं। इनमे से एक का भी कभी सर्वथा अभाव नहीं होता।

भारतीय दर्शन पुराकाल से 'द्रव्य' को मान्यता देते रहे हैं। कतिपय दर्शन द्रव्य को 'पदार्थ या तत्त्व' भी कहते है, कुछ उसे 'सत्' भी मानते हैं। साराश कि विभिन्न दार्शनिक एक ही वस्तु को भिन्न–भिन्न नाम से अभिहित करते आ रहे है।

भारत की प्राचीन भाषाओं–प्राकृत व सस्कृत मे इस विषय पर रचित सैकडों ग्रन्थ अब भी प्राप्य हैं और उनका अनुशीलन तत्तद् भाषाविज्ञ करते हैं। उपर्युक्त दोनों भाषाओं मे गुम्फित ग्रन्थों के अनुवाद, विश्व की कई भाषाओं में हो चुके हैं। जैन दार्शनिक ग्रन्थ भी उनमे सम्मिलित हैं।

जैन दर्शन मान्य षड्द्रव्य निम्न है—

(१) धर्मास्तिकाय, (२) अधर्मास्तिकाय, (३) आकाशास्तिकाय,

(४) काल, (५) पुद्गलास्तिकाय, (६) जीवास्तिकाय ।

जैन आगमो व प्रकीर्णग्रन्थों मे इन्हीं पर विशद विचार समुपलब्ध हैं । मुख्य द्रव्य जीवास्तिकाय है—आत्मा है, उसी को समझने के लिए अन्य द्रव्यों को विशेषतया–पुद्गलास्तिकाय को समझने की आवश्यकता है, क्योकि आत्मा की अनन्तशक्ति पुद्गल के द्वारा आवरित है । उस आवरण का सर्वथा हट जाना ही 'मुक्ति' है ।

वैसे सभी दर्शनों का लक्ष्य मुक्ति है, पर जैनदर्शन की मुक्ति की अपनी विशिष्टता है । प्रत्येक धार्मिक क्रिया का केन्द्रीय–लक्ष्य 'मुक्ति' है ।

अन्य द्रव्यों के साथ आत्मद्रव्य का सम्बन्ध कैसा है ? शाश्वत है या अशाश्वत? सापेक्ष है या निरपेक्ष ? हेय है या उपादेय । क्या हानि–लाभ है ? सम्बन्ध क्यों है ? कैसे छोड़ा जाय ? किन द्रव्यों से छूटता है ? किन से रहता है ? इत्यादि विचारणाएँ दार्शनिक ग्रन्थों मे की गयी हैं ।

प्रस्तुत ग्रन्थ 'द्रव्यप्रकाश' भी जैन दार्शनिक विचारधारा का प्रतिनिधित्व करता है । द्रव्यानुयोग के महान् ज्ञाता १८वीं सदी के विज्ञ सन्तप्रवर श्रीमद् देवचन्द्रगणिवर्य महोदय ने शास्त्रों का रहस्य मन्दबुद्धिजनहितार्थ तत्कालीन जनभाषा मे भी प्रकट किया है । वैसे उन्होंने संस्कृत व प्राकृत मे भी अनेक ग्रन्थों की रचना की है । परन्तु वे तद्भाषा विज्ञजन ही हृदयङ्गम कर सकते है । समभावी सन्त–पुरुषों की दृष्टि सर्वत्र सम होती है, सामान्यजन की कल्याण भावना से साधारण बोलचाल की भाषा—राजस्थानी, गुजराती और तत् सामयिक कविजनादृत ब्रजभाषा मे भी उन्होंने गद्य व पद्य साहित्य का सृजन किया । उन्हीं मे से एक यह लघु रचना ब्रजभाषा मे गुम्फित है । इसमे दोहा, कवित्त, सवैया आदि छन्दों मे द्रव्य स्वरूप का सुन्दर, सरस एव सरल वर्णन प्रस्तुत किया गया है ।

वीर शासन-सेविका

प्र. आर्या सज्जनश्री

ग्रन्थ का सार

मगलाचरण मे प्रथम सिद्ध परमात्मा को नमस्कार करने के साथ ही स्याद्वाद भाव को भी नमन किया है, वस्तु का यथार्थ ज्ञान स्याद्वाद से ही होता है । स्याद्वाद द्वारा स्वपर का भेदज्ञान कर स्व आत्मा को मुक्त किया जा सकता है । तदनन्तर अध्यात्म की महत्ता, मोह का विलास— जिससे आत्मा भोगों मे आसक्त रहकर स्वय को भूला हुआ रहता है । फिर षड्द्रव्य—१ धर्म, २ अधर्म, ३ आकाश, ४ काल, ५ पुद्गल और ६ जीव का नाम मात्र वर्णन कर स्वय की लघुता प्रकट करते हुए कहा है—

भूचर वामनसो सकति बिनु कहै ऐसो
लम्बी करि भुजा मैं तो मेरु चूला फरसो,
तैसे मै अलपबुद्धि महा वृद्ध ग्रन्थ मण्ड्यो,
पण्डित हँसेंगे निज ज्ञान के गहर सों ॥

एक पूर्व का ज्ञान होने पर भी गर्व का अशमात्र नहीं । इस नम्रता ने ही उन्हें इस लोक मे सर्वमान्य और भवान्तर मे तीर्थंकर या सर्वज्ञ बनाया है ।

'द्रव्य प्रकाश' ग्रन्थ के पठनाधिकारी सम्यग्दर्शनवान् व्यक्ति ही स्वीकृत किये है । फिर देशविरति श्रावक कैसे होते है ? इसे बतलाया है । पुन वे आरम्भ मे सिद्ध स्तुति कर चुके थे, अत शेष पदों— अरिहन्त, आचार्य, उपाध्याय एव साधु की स्तवना की है । 'द्रव्यस्तवना से पुण्यबन्ध और भावस्तव से केवलज्ञान की प्राप्ति होती है' इसे स्पष्ट करते हुए श्रीमद् कहते हैं—

"द्रव्यस्तवना नाथ की, करता पुण्य प्रकाश ।
आतम के गुन गावता, केवलज्ञान विलास ॥"

प्रत्येक स्तवना मे स्तवनीय का स्वरूप समझाया है । आगे अविरति

आदि बन्धहेतु बतलाते हुए जो दर्शनज्ञानचारित्र जहाँ जिस गुणस्थान मे पूर्ण होते हों, वही सिद्ध–मुक्त क्षेत्र हैं; कहकर मिथ्यादृष्टि—स्वपरज्ञान का अभाव, पुद्गलरमणता, एकान्तपक्ष का ग्रहण, पुण्याकांक्षा, कुगतिगमन का भय, सद्गति की अभिलाषा आदि को हेय बताया है । प्रस्तुत द्रव्यप्रकाश मे तीन अधिकार है जिनमे से प्रथम मे धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय एव काल इन चार द्रव्यो का वर्णन है । दूसरे अधिकार मे पुद्गलास्तिकाय एव तीसरे मे जीवास्तिकाय का वर्णन है ।

॥ प्रथम अधिकार ॥

फिर ग्रन्थारम्भ करते हुए ग्रन्थपरिचय देते है कि जिसमे छहों द्रव्यों का स्याद्वाद पूर्ण वर्णन है ऐसा 'द्रव्य प्रकाश' ग्रन्थ सम्यक्त्व धारण करने के लिए है । यहाँ शिष्य शका करता है कि अन्य धर्मास्तिकायादि पाँच द्रव्य जानने की क्या आवश्यकता है ? जो ज्ञान रूप और आदेय है, उस चेतन द्रव्य–आत्मा को जान लेना ही काफी है । उसके उत्तर मे कहते हैं कि—यद्यपि चेतन द्रव्य अनन्तगुण वाला है, वही ध्येय तथा आदेय–ग्रहण योग्य है, किन्तु वह स्वय को भुलाकर भव–कीच मे फँसा हुआ है, स्वयं का भान होने पर मुक्त रूप से विचरने लगता है । चेतन की भूल का कारण पर–जड़पुद्गल की सगति है । इसी कारण चञ्चल 'बनकर भ्रमण करता' है, पर को जानने पर उसका त्याग किया जा सकता है । अतः दोनों को ही पण्डित जन बतलाते हैं । भेदज्ञान इसी से होता है और वही मुक्ति का पथ है । इसी मे ज्ञान व ज्ञेय है, भेदज्ञान बिना ध्यान व ध्येय की शुद्धता नहीं होती ।

निश्चय और व्यवहार, दोनों नयो से भेदज्ञान करना चाहिए । शुद्धनय निश्चय यथार्थ सत्यस्वरूप का बोधक है, व्यवहार क्रिया इससे विपरीत और भेदज्ञान मे कारणरूप न होने पर ज्ञानदृष्टि से त्यागने योग्य है, वस्तु को पहचान कर निजस्वरूप को शुद्ध करने का निश्चय कर लेना यह शुद्धनय का स्वरूप है; यही हमारा सम्यक् मित्र है; इसके जैसा और कोई

मित्र नहीं । ऐसे रत्नत्रय के स्वामी और अन्तर्यामी देव अन्य कौन हो सकते है ? अर्थात् शुद्ध स्वरूप को प्राप्त सिद्ध भगवान् ही है, ऐसे शुद्धनय से ही हमारी स्थिर प्रीति है ।

जिसका आधार मात्र तत्वहीन क्रिया हो वह बाह्यलिङ्ग व्यवहार नय है । इसमे भी शुद्ध व्यवहार तत्त्वज्ञान युक्त क्रिया ग्रहण योग्य और अशुद्ध व्यवहार त्यागने योग्य है ।

निश्चय शुद्ध नय की अपेक्षा यह आत्मा चिन्मय निष्कलङ्क चन्द्रवत् है । अनादि अनन्त है और मात्र द्योतक है ।

यहाँ शिष्य को सन्देह होता है, वह पूछता है—आपने व्यवहार नय को ज्ञानहीन पर और हेय बतलाया, फिर जैन शासन मे इसका वर्णन व व्यवहार क्यों है ?

उत्तर—मैने आत्म तत्त्व को जानने के लिए व्यवहार व निश्चय दोनों नयों का ग्रहण किया है । श्रीतीर्थंकर भगवान् ने तीर्थ प्रवृत्ति निमित्त दोनों नय बतलाये है ।

निश्चय लक्ष्य है, प्रवृत्ति व्यवहारमय होती है । शुद्ध व्यवहार द्वारा अशुद्ध आत्मा शुद्ध बनता है । भेदज्ञानपूर्वक प्रवृत्ति शुद्ध व्यवहार है । भेद-ज्ञान ही मुक्त होने मे सहायक बनता है, भेदज्ञान के अभाव मे मुक्त नहीं हो सकता । अत भेदज्ञान की महत्ता बतलाते हुए कहते है—जैसे कोइ भव्यात्मा सदैव ज्ञान मे लीन रहता हो, वह कर्मों के बन्ध को एक क्षणमात्र मे उखाड फेकता है, उसमे भेदज्ञान ही मुख्य कारण है । वह चतुर और विवेकशील है, स्वपर का ज्ञाता है । बन्ध के चक्र मे फँसा हुआ तो आठों प्रहर मात्र कर्मबन्ध ही करता है और जाल मे फँसकर ससार मे भ्रमण करता रहता है । स्वपर भेद ज्ञानवाला ज्ञान से पुष्ट आत्मा कर्मसमूह को अपने क्षेत्र आत्मप्रदेश मे नहीं आने देता, अपने गुणों मे निवास करते हुए, गुण-ज्ञान दर्शनादि की रूप राशि का भास होता रहता है और वह स्वय को आत्मप्रदेश रूप अखण्ड समझता है । भेदज्ञान रहित आत्मा अनादि काल से मेघमालाओं से आच्छादित सूर्य के १ होता है । उसे अपने परमात्मस्वरूप का भान नहीं होता और स्वयं

को पर-कर्म का कर्त्ता निश्चय से मानता रहता है । निश्चय नय की अपेक्षा से आत्मा कर्म का कर्त्ता नहीं, ऐसा सद्गुरु के उपदेश से जब आत्मा जान लेता है; तब वह अनादिकालीन मिथ्यात्व की निद्रा को त्यागकर जागृत हो जाता है, और चिन्तन करने लगता है—"मै परद्रव्य-पुद्गल जड़रूप नहीं हूँ, न यह पुद्गलादि परद्रव्य मेरे हैं" ऐसा भास-ज्ञान होने पर उसे बन्ध कैसे हो सकता है ? अतः भली प्रकार जान कर व देख कर स्वय के परमश्रेष्ठ पद को ही ग्रहण करो, उस पद के सम्मुख अन्य पद कभी आत्मा को अच्छे नहीं लग सकते । प्रमाण, निक्षेप, नय आदि का ज्ञान उस परमतेज के आगे अस्त हो जाते हैं, स्वरूपज्ञान व भेदज्ञान ही मुक्ति का उपाय है ।

'आत्मा परभाव का कर्त्ता नहीं' यह विचार कैसे करें ? इसकी रीति बतलाते है—

"आठो कर्मो की प्रकृतियों का बन्ध, उदय, उदीरणा, सत्ता, भोग आदि सभी कर्म सम्बन्धी कार्य पुद्गल-पररूप हैं । मै तो इनसे पृथक् स्वतेजोमय ज्ञानादि तेज से पूर्ण कर्म विमुक्त हूँ" यह चिन्तन आत्मा को स्थिर बनाने वाला है, यही आगे के पद्य मे स्पष्ट किया है ।

श्रीमद् उदाहरण देते हैं कि जैसे वायु के स्तम्भित हो जाने पर सरोवर का जल स्थिर हो जाता है, वैसे ही ज्ञाता जीव कर्म को पृथक् समझता हुआ बन्ध मुक्त रहता है । अनन्तज्ञान के स्वामी आत्मा के साथ जो परभाव लगे हुए हैं, उन्हें ज्ञानयोग से दूर करता है ।

'जो आत्मा स्वयम्भू चेतनस्वरूप, अमल अनन्त बलशाली, त्रैल्योक्य का अधिपति है उसी का स्थिर होकर ध्यान करो और लोक से सम्बन्ध त्याग दो । इस प्रकार आश्रव का नाश होने पर सवरमय-स्वरूप वने हुए आत्मा को कर्म जो आत्मा के लिए अभोग्य है, उनसे कौन बाँधकर रख सकता है ? अर्थात् सवर भाव—त्याग सयम मे रहने से कर्म नहीं बँधते । वर्णादि सभी शरीर के अग है, उस शरीर का धारण कर्मवश होता है, जैसे स्फटिक के पीछे भाँति-भाँति के रगीन पत्र लगा देने से स्फटिक वैसे रंग का दिखने लगता है पर वास्तव मे उससे पृथक् है ।

वैसे ही आत्मा भी कर्म सयोग से विभिन्न शरीरादि रूप एव परपरिणति रूप भासने लगता है । यद्यपि आत्मा स्फटिक के समान उज्ज्वल निर्मल है, तथापि रागद्वेष मोह अज्ञान की उपाधि के कारण ससार मे रहता हुआ अज्ञान के वश विकल-व्यग्र रहता है । फिर भी अपने ज्ञानादि स्वभाव का त्याग नही करता । जैसे स्वर्ण विविध भाँति के आभूषणादि का रूप धारण करता हुआ स्वर्ण रूप ही रहता है और कृष्णपक्ष में राहु के कारण चन्द्र कला घटती दिखती है, किन्तु राहु से चन्द्रमा पृथक् है । वैसे ही पुद्गल के सग रहा हुआ आत्मा भी उससे वास्तव में पृथक् है ।

ससारी आत्मा का स्वरूप

ससारी आत्मा अज्ञानवश पर-परिणति-रागद्वेष मोह काम आदि को अपनी और स्व की ज्ञानादि शुद्ध परिणति को पर मानता है, अत रागी द्वेषी अहकारी मैं हूँ ऐसे विकल्परूप मल से मिला हुआ कर्मों का बन्ध करके ससार मे व्यग्रतापूर्वक भ्रमण करता रहता है । जैसे किसी को भूत लग जाय वह अपना भान भूल जाता है, वैसे ही यह जीव भी मोहभूतवश भान भूलकर कर्म बाँधता रहता है । पर सयोग से स्व को पर का कर्त्ता मानता है जब ज्ञान से स्व-ज्ञानादि को अपना और पर-रागादि भावों को पर मान लेता है और छोड देता है तब अकर्त्ता होता है ।

जगत् मे षड्द्रव्य हैं उनमे एक चेतन द्रव्य के अतिरिक्त सभी 'पर' हेय हैं, शुद्ध चेतना से युक्त मात्र जीव ही सदा आदेय-ग्रहणयोग्य है । धर्मास्तिकाय आदि पाँच जड और हेय हैं, तथापि ज्ञेय तो है ही, अत स्याद्वादनयपूर्वक उनकी स्पष्ट व्याख्या करता हूँ । प्रथम द्रव्य का लक्षण बतलाते हैं ।

द्रव्य लक्षण

जो सदा विद्यमान रहे, जिसमे उत्पाद व्यय और ध्रौव्य होता है, वह सद् का लक्षण है । जो सत् रूप है वह द्रव्य है । तत्त्वार्थसूत्र मे भी "उत्पाद-व्ययध्रौव्ययुक्त सत्" कहा है । जो अस्तिकाय है, वे द्रव्य है । पाँच द्रव्य धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल और जीव अस्तिकाय है । इनमे

से चार (पुद्गल के अतिरिक्त) अरूपी हैं। काल भी अरूपी है, यद्यपि वह औपचारिक द्रव्य है परन्तु छः द्रव्यों मे वह भी एक है।

चार द्रव्य-धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये अरूपी हैं— अखण्डभाव को धारण करते हुए विद्यमान रहते हैं। इनमे भी अस्तिकाय-धर्म, अधर्म व आकाश तीन पदों—उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य युक्त हैं। काल अस्तिकाय न होने से उसमे उपर्युक्त त्रिपदी लागू नहीं पड़ती। ये चारो अपने-अपने गुणों से युक्त लक्षण सहित अपना कार्य करते हैं। एक दूसरे से पृथक् सत्ता वाले हैं। इन चारों से ही जीव वियुक्त रहता है। इनसे लिप्त नहीं होता और स्व सामर्थ्य से सिद्ध होता है।

काल को छोड़ तीन—धर्म अधर्म आकाश का स्वरूप वर्णन किया है। ये तीनों एक-एक स्कन्ध स्वरूप हैं अक्रिय हैं। इनमे धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, असंख्य प्रदेशी, लोकाकाश प्रमाण और अचल हैं। आकाशास्तिकाय अनन्त प्रदेशी लोकालोक प्रमाण गुण पर्यायवान् एवं अक्रिय है। ये सभी यद्यपि जीव के समान ही स्व स्व गुणपर्याय लक्षणादि युक्त हैं; पर ज्ञेय हैं; ध्येय नहीं। ध्येय तो एक जीव है, जो लोकालोक का ज्ञाता है।

धर्मास्तिकाय का लक्षण

जो पुद्गल और जीव को चलने मे सहायक है, वह धर्मास्तिकाय है। वह स्वय अचल व अक्रिय है। यहाँ शका होती है कि जो स्वय अक्रिय है वह जीव व पुद्गल को कैसे प्रेरित करता है ? उसका समाधान जलमीन के दृष्टान्त द्वारा किया गया है। जैसे जल-जलचर जीव-मत्स्यादि को गमन मे सहायक रूप है। जल बिना वे चल नहीं सकते; वैसे ही जीव तथा पुद्गल भी धर्मास्तिकाय के अभाव मे गमन क्रिया नहीं कर सकते।

अधर्मास्तिकाय का लक्षण

जीव पुद्गल की स्थिति-ठहरने मे सहायक अधर्मास्तिकाय द्रव्य है। जैसे मध्याह्न समय ग्रीष्मकाल में पथिक को छायादार वृक्ष विश्राम लेने में

सहायक बनता है, वैसे ही अधर्मास्तिकाय भी ठहरने में निमित्त या सहायक है ।

आकाशास्तिकाय लक्षण

अवकाशदान आकाश का लक्षण है । सारे अन्य द्रव्य स्व-स्व-गुणपर्याययुक्त इसी आकाश में रहते है ।

धर्मादि तीन द्रव्यों के सामान्यतया आठ-आठ गुण हैं—

(१) अस्तिस्वभाव, (२) वस्तुस्वभाव, (३) द्रव्य स्वरूप, (४) प्रमेयत्व, (५) अगुरुलघुत्व, (६) सप्रदेशत्व, (७) अजीवत्व और (८) अरूपित्व ।

तीनों के ये आठ गुण जातीय हैं, इनमें कभी व्यभिचार अर्थात् मिलन एक दूसरे में गमन या मिश्रण अथवा विनिमय नहीं होता ।

गति, स्थिति और अवगाहना ये तीनों—धर्म, अधर्म व आकाश के क्रमश असाधारण गुण है । सत् साधारण गुण हैं, जो तीनों में समानरूप से है । द्रव्यों के गुण पर्याय का ज्ञान बडा गहन विषय है, इसी को समझाने का प्रयास इस 'ग्रन्थ' में है । गुण कहकर अब गुण के पर्याय बताते है ।

गुण में विकार होना पर्याय कहलाता है । पर्याय दो प्रकार के हैं—(१) स्वभाव पर्याय, (२) विभावपर्याय । अगुरुलघु में विकार शुद्धपर्याय है । हानि वृद्धि रूप से उसके द्वादश भेद होते हैं—

१ अनन्त भाग हानि ।	१ अनन्त भाग वृद्धि ।
२ असख्यात भाग हानि ।	२ असख्य भाग वृद्धि ।
३ सख्यात भाग हानि ।	३ सख्यात भाग वृद्धि ।
४ अनन्त गुण हानि ।	४ अनन्तगुण वृद्धि ।
५ असख्यात गुण हानि ।	५ असख्यात गुण वृद्धि ।
६ सख्यात गुण हानि ।	६ सख्यात गुण वृद्धि ।

अगुरुलघु गुण व उसके ये शुद्धपर्याय छहों द्रव्यो मे समान ही है ।

विभाव पर्याय

स्कन्ध स्थानगत भेद को लेकर धर्मादि द्रव्यों के विभाव-पर पर्याय का कथन होता है । जैसे—आकाश की अपेक्षा से घटाकाश, पटाकाश, मठाकाश आदि ।

आकाश के मूल भेद दो है-(१) लोकाकाश (२) अलोकाकाश । लोक अलोक के लक्षण—जहाँ छहों द्रव्य हों वह लोक है । जहाँ मात्र आकाश द्रव्य का ही उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य होता हो, वह अलोक है । अलोक सादि अनन्त है; वहाँ केवल आकाश रूप अजीव द्रव्य है । लोक मे आकाश के असंख्यात प्रदेश हैं; उसी मे गुणपर्याययुक्त छहों द्रव्य रहते है ।

शंका—लोकाकाश के असख्यात प्रदेश है । उन्हीं मे असंख्यात प्रदेश वाले अन्य धर्मादि द्रव्य कैसे रह सकते हैं ? क्योंकि जीव अनन्त हैं । वे भी तो असंख्यात प्रदेश वाले है और पुद्गल द्रव्य के सूक्ष्म अणु लोकाकाश व अलोकाकाश प्रमाण अनन्त हैं तथा काल की भी समय-समय अनन्त वर्तना है । इन सब का आधार लोकाकाश तो मात्र असख्यात प्रदेश वाला है; धर्मादि पाँच ही आधेय हैं जिनमे दो अनन्त हैं । इतने छोटे स्थान मे उन सबका समावेश कैसे हो सकता है ?

समाधान—एक पात्र जल से भरा हुआ है, उसमें तदुचित शर्करा डाली जाय वह गल जाती है, नमक की एक डली डाली जाय, वह भी उसी मे मिल जाती है, फिर उसी मे राख भी डाल दी वह भी जम गयी, पुनः सूइयों का समूह लेकर उसी मे एक-एक करके अत्यन्त समीप रूप से खोंस दी जाय इन सभी का जलपात्र मे समावेश हो जाता है । सभी पदार्थ पृथक्-पृथक् सत्ता के धारी हैं, फिर भी सर्व का समावेश जल मे हो जाता है, वैसे ही लोकाकाश में अवगाहगुण की शक्ति के कारण अन्य पाँचों द्रव्यो का भी समावेश हो जाता है ।

जैन दर्शन की मान्यता के विपरीत अन्य दर्शनियों की मान्यता है । वे धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय को नहीं मानते । उनका कहना है कि दोनों द्रव्य कल्पनामात्र है । वास्तव मे है नहीं, क्योंकि ये प्रत्यक्ष, अनुमान,

उपमान और शब्द प्रमाण से ग्राह्य ही नही है । जैन दार्शनिक कहते है— ये काल्पनिक नहीं, आप्तकथित आगम व अनुमान से भी सिद्ध है, वास्तविक व नित्य है । जैसे अनुमान से इन्द्रिय व मनगृहीत भाव भी ससार में सत्य है वैसे ही धर्मादि भी जीव पुद्गल की गति व स्थिति मे सहायक होने से सत्य है । इनके बिना गति व स्थिति नहीं हो सकती ।

आधुनिक विज्ञान भी गति मे सहायक 'ईथर' नामक तत्त्व स्वीकार करता है । जैसे दधि मे घृत दिखता नही, पर है अवश्य, वैसे ही धर्मादि अरूपी होने से दिखते नही, पर निश्चित रूप से जगत् में विद्यमान है ।

कालवादी कहते है कि गति स्थिति काल के आधीन है । बुद्ध (बौद्धों) की मान्यता है कि एक द्रव्य दो क्रिया नहीं कर सकता । तुम्हारे मतानुसार काल नव पुरातन क्रियाएँ करता है । ये दो क्रिया अकेला काल नहीं कर सकता ।

पचभूतवादियों की मान्यता है कि जल, अग्नि, वायु आदि एव गति, स्थिति आदि सभी कार्य पृथ्वी के ऊपर होने से पृथ्वी के आधीन है । बुद्ध का उत्तर है—वायु आदि भूत तथा जीव और जड इन सब की शक्ति पृथक्-पृथक् है, ये गति स्थिति में सहायक रूप नहीं बनते । उत्तर—जीव और पुद्गल की गतिस्थिति मे धर्मास्ति व अधर्मास्ति द्रव्य सहायभूत है । जीव इनका ज्ञाता भी है, क्योंकि वह ज्ञानगुण युक्त है । अत धर्मास्ति व अधर्मास्ति ये दो द्रव्य जिनके बिना गति स्थिति नहीं हो सकती, अनिवार्यरूप से लोकाकाश में विद्यमान रहते है ।

कालद्रव्य के लक्षण

इसकी परिणति वर्तना स्वरूप है और यह नवीन को जीर्ण बनाने रूप क्रियाशील रहता है । नवीन वस्तु समय व्यतीत होने पर जीर्ण होती है, यह प्रत्यक्षरूप से प्रमाणित है, अत काल का असाधारण लक्षण भी यही है ।

कालद्रव्य भी यद्यपि उपर्युक्त अस्ति आदि आठ गुण युक्त है, तथापि अप्रदेशी और समय पृथक्-पृथक् होने से कायरूप नहीं है । वर्तना के ये विशेष गुण जिनेश्वरदेव ने काल के भी कहे है । अगुरुलघुत्व

के पर्याय स्व पर रूप से उसमे रहते है । वर्तना स्वपर्याय और आवलिका, मुहूर्त्त, दिन, रात्रि आदि अनन्त पर पर्याय है । इन्हीं मे उत्पाद व्यय और ध्रौव्य होता है । काल द्रव्य अनन्त समय वाला है । वर्तनारूप से नरक्षेत्र—अढाईद्वीप मे वर्त्तता है ।

शंका—आपने काल की वर्तना नरक्षेत्र प्रमाण बतलायी और "उत्पादादि त्रिपदी समस्त लोक मे होती है और समय-समय होती रहती है" यह विपरीत कथन समझ मे नही आता है, अतः कृपया स्पष्ट समझाइये ?

समाधान—हम प्रमाण का पक्ष लेकर ही ऐसा कहते हैं । नरक्षेत्र मे भी त्रिपदी तो काल की होती है, साथ-साथ सूर्य-चन्द्र के कारण दिन रात्रि आदि का भी समयविभाग होता है । वर्त्तना इसे ही कहा है । उत्पाद और ध्रौव्य शाश्वतरूप से छहों द्रव्यों मे होता है, ऐसा ज्ञानियों—सर्वज्ञ सर्वदर्शी केवलज्ञानियों ने अपने ज्ञान दर्शन से जाना देखा है; अतः वैसा ही उपदेश मे कहते और गणधर भगवान् उसी अर्थ को सूत्ररूप गूँथ कर आगमरूप से प्रकट करते हैं । उसी आगमप्रमाण से हम कहते हैं । त्रिकालवर्त्ती सभी ज्ञानिजनसर्वज्ञ-काल को सदा अनन्त समयात्मक देखते हैं ।

किसी अन्य आचार्य का कथन है कि कालद्रव्य अनन्त नहीं असंख्यात है, रेणुक है, स्थिर है, लोकप्रदेश परिमित है, एक-एक रेणुक मे अनन्त अनन्त 'समय' प्रकट होते रहते हैं । समय पृथक्-पृथक् हैं और कभी मिलते नहीं, अतः अस्तिकाय नहीं कहलाते । अनन्तकाल व्यतीत हो गया उतना ही अनन्त अनागतकाल है । वह अप्रदेशात्मक और परिणामी है ।

वास्तविक काल स्वरूप

काल को मनुष्य क्षेत्र परिमित व्यवहार से कहा है । निश्चय से पाँचों द्रव्य धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय और जीवास्तिकाय वर्त्तना ही कालस्वरूप है; काल अस्तिकाय ही नहीं है, तो सद्रूप न होने से उसमे उत्पाद व्यय ध्रौव्य भी नहीं होता; अतः काल

औपचारिक द्रव्य है । वास्तविक द्रव्य पाँच ही हैं ।

यद्यपि धर्मादि पाँच द्रव्यो मे त्रिपदी होती रहती है, अगुरुलघुत्व पर्याय भी चारों में ही जीव के समान है, ये भी अरूपी, अखण्ड, अज, अनादि, अनन्त, सद्रूप एक दूसरे से सदा अनमिल और लोक प्रमाण है, सप्रदेशी है । इत्यादि जीव समान गुणवाले होने पर भी अजीव जड होने से ध्येय नहीं है । ध्येय तो मात्र ज्ञान चेतनावान् जीव है, वही अनन्तत्रिगुण—ज्ञानदर्शनचारित्र वाला, देवों में चन्द्रमा के समान और ब्रह्मज्ञान का निधान होने से उपादेय है ।

॥ इति प्रथम अधिकार ॥

॥ द्वितीय अधिकार ॥

अरूपी और जड ऐसे चार द्रव्यों—धर्म, अधर्म, आकाश और काल का वर्णन प्रथम अधिकार में किया गया । अब रूपी जड पुद्गल को सक्षेप से बतलाते है । इससे पूर्व पुद्गल सयोग से आत्मा कैसा और क्यों बन जाता है ? इसे कहते हैं—

जिस प्रकार समुद्र का जल, तीव्र वायु के योग से अत्यन्त ऊँचा उछलने लगता है, मन्दवायु से भी छोटी तरङ्गावलि युक्त चञ्चल ही रहता है । रचमात्र भी कभी स्थिर नहीं रहता, वैसे ही यह चेतनराज भी यद्यपि स्वरूप से अमल स्थिर अखण्ड रूप से अनन्त ज्ञान राशि युक्त है, तथापि कर्मप्रेरित मोह के पवन से देहादि में ममत्व भाव धारण करता हुआ क्षुब्ध होता रहता है । जिस प्रकार मृत्तिका जल सयोग से घट दीपकादिरूप सुन्दर आकार धारण करके तद्रूप दृष्टिगोचर होती हुयी तत्तत् कार्य करती हुई भी मृतिका ही है । उसी प्रकार अष्ट कर्मजल के सयोग से आत्मा भी चार गति रूप ससार में विविध प्रकार से शरीर धारण कर सुख दुख भोगता हुआ भी अखण्ड चेतनत्व युक्त सदा ध्रुव नित्य है । अपने ज्ञानादि गुणो सहित आत्मा अमल अखण्ड रूप को जब पूर्ण रूप से रत्नत्रय की आराधना द्वारा प्रकट कर लेता है तब वही सिद्ध है । उस सिद्ध स्वरूप को नमस्कार करके श्रीमद् देवचन्द्र गणि

महोदय कहते है कि ऐसे आत्मा के अतिरिक्त मोक्ष का साधक अन्य धर्मादि अचेतन द्रव्य नहीं हो सकते ।

पुद्गल द्रव्य पूरण–गलन स्वभाव वाला अस्तिकाय और मूर्त्तरूप है, स्पर्श वर्ण गन्ध और रस स्वरूप है । गुण पर्याय युक्त है । उसमे भी आठ गुण हैं—१. अस्तित्व २. वस्तुत्व ३. द्रव्यत्व ५. प्रमेयत्व ५. अगुरुलघुत्व ६. सप्रदेशत्व ७. अजीवत्व और ८. रूपित्व । ये सामान्य गुण है । पूरण गलन विशेष गुण है । षड्गुण हानि वृद्धि रूप मूल पर्याय हैं । द्वयणुकादि स्कन्ध रूप परपर्याय हैं । अणु अनन्त है । प्रत्येक अणु मे एक वर्ण, एक गन्ध, एक रस और दो स्पर्श ये ५ गुण है । ये भी मूलपर्याय स्वरूप है । अणु परिणामी होने से उसमें अन्य अणु से मिल जाने की शक्ति सदा वर्त्तमान रहती है । द्वयणुक, त्र्यणुक, संख्यात अणुक, असंख्यात अणुक और अनन्त अणुक के स्कन्ध बन सकने की शक्ति और सामर्थ्य होने व बनने से अस्तिकाय कहलाता है । ऐसे पुद्गल द्रव्य सम्पूर्ण (लोकालोक) आकाश प्रदेश जितने है । चौपड़ खेलने के सारिपाशे के सस्थान (आकार) वाले अनन्त स्कन्ध हैं । वे पुद्गल द्रव्य, अणु रूप एवं स्कन्ध रूप है । स्कन्ध भी दो प्रकार के है—जीवगृहीत, जीव अनगृहीत । जीवगृहीत अणु कार्मणादि कहलाते है, शेष अणु स्कन्धादिरूप है ।

मुक्त अणु अनन्त है; वे भी मिलकर स्कन्ध बन जाते हैं । स्कन्ध रूप बने हुये बिखर कर अणुरूप बन जाते हैं । इस प्रक्रिया को पूरण–गलन कहते हैं । ऐसा कहने वाले कि अणु अनन्त हैं, स्कन्ध अनन्त नहीं, वे शास्त्रज्ञानहीन हैं । यदि ऐसी मान्यता है तो 'द्रव्य पुद्गल' परावर्त्तन फिर कैसे घट सकता है ? अणु की जीव के समान ही गति है और स्थिति तो अनन्तकाल की अर्थात् नित्य है ।

अब स्कन्ध का स्वरूप कहते हैं—छाया, आतप, तेज, अन्धकार, प्रभा, उद्योत, शब्द, वर्ण, गन्ध, रस, और स्पर्श ये पुद्गल के रूप है । पुद्गल का स्वभाव मिलना, बिखर जाना, लघु या स्थूल रूप धारण करना आदि है । ये सब स्कन्ध रूप हैं । इनमे से भी कितनेक इन्द्रियग्राह्य और

कितनेक इन्द्रिय-अग्राह्य है । स्कन्ध तीन प्रकार के है—सख्यात अणुवाले, असख्यात अणु वाले और अनन्त अणुवाले । ये सब अचेतन जड ज्ञानहीन और हेय तथा ज्ञेय है, उपादेय तो मात्र चेतन स्वरूप ज्ञाता जीव ही है ।

कर्म प्रकृति विवरण १ वन्ध हेतु

जीव के कर्म वन्ध कैसे होता है ? अव यह वतलाते है—अनादिकाल से आत्मा कर्म सयोग के कारण मिथ्यात्व भाव में लीन बना हुआ है, अर्थात् आत्म भाव को विस्मृत कर पुद्गल मे रमण कर रहा है, अत अविरति मे क्रोधादि कषाय युक्त ही प्रवृत्ति करता रहता है इन सबके उत्तर भेद सत्तावन (५७) हैं—

पाँच मिथ्यात्व—१ आभिग्रहिक २ अनाभिग्रहिक ३ आभिनिवेशिक ४ साशयिक और ५ अनाभोगिक (इनका विस्तृत अर्थ अन्यत्र देखें, यहाँ सार मात्र लिखना है अत नामनिर्देश ही किया है)

वारह अविरति—१ स्पर्शेन्द्रिय अविरति २ रसनेन्द्रिय ३ घ्राणेन्द्रिय ४ चक्षुरिन्द्रिय ५ श्रोत्रेन्द्रिय ६ मन की अशुभ प्रवृत्ति ७ पृथ्वीकाय ८ अप्काय ९ तेजस्काय १० वायुकाय ११ वनस्पतिकाय और १२ त्रसकाय की हिसा में प्रवृत्ति ।

पच्चीस कषाय—१ अनन्तानुबन्धी क्रोध, २ अनन्ता मान ३ अनन्ता माया, ४ अनन्ता लोभ, ५ अप्रत्याख्यानी क्रोध, ६ अप्रत्या मान, ७ अप्रत्या माया, ८ अप्रत्या लोभ, ९ प्रत्याख्यानी क्रोध, १० प्रत्या मान, ११ प्रत्या माया, १२ प्रत्या लोभ, १३ सज्वलन क्रोध, १४ सज्व मान, १५ सज्व माया, १६ सज्व लोभ एव १७ हास्य, १८ रति, १९ अरति, २० भय, २१ शोक, २२ जुगुप्सा, २३ स्त्रीवेद, २४ पुरुषवेद, २५ नपुसक वेद ।

पन्द्रह योग—चार मनोयोग—१ सत्य, २ असत्य, ३ मिश्र, ४ व्यवहार मन । चार वचनयोग—५ सत्य, ६ असत्य, ७ मिश्र, ८ व्यवहार वचन । सात काय योग—९ औदारिक, १० औदारिक मिश्र ११ वैक्रियक, १२ वैक्रियक मिश्र, १३ आहारक, १४ आहारक मिश्र, १५ कार्मण ।

इन सत्तावन हेतुओं से जीव, कर्म बाँधता है । बन्ध चार प्रकार का है—१. प्रकृति बन्ध, २. स्थिति बन्ध, ३. अनुभाग–रसबन्ध, ४. प्रदेश बन्ध । प्रकृति का अर्थ स्वभाव है, स्थिति का कालनिश्चय, रस–शुभाशुभ । कर्मदल का सचय प्रदेश बन्ध है । इसे मोदक के दृष्टान्त से समझना चाहिये—जिस पदार्थ का मोदक बनाना है, वह प्रकृति है, कर्म प्रकृति मूलतः आठ होती है । उत्तर भेद एक सौ अट्ठावन (प्रकृति) होते हैं । इनका बन्ध होना प्रकृति बन्ध है । मोदक के ताजा गुणकारी या अवगुणकारी रहने का समय स्थिति बन्ध है । शुभाशुभ विपाक देने की शक्ति रसबन्ध है, जैसे मोदक की चाशनी के अनुसार मोदक मे मीठापन या कटुत्व होता है । कर्मदल का सचय कम अधिक रूप मे होना प्रदेश बन्ध है, जैसे मोदक का छोटा बड़ा होना ।

कर्म प्रकृतियाँ

कर्म की मूल प्रकृतियाँ—१. ज्ञानावरणीय कर्म, २. दर्शनावरणीय कर्म, ३. वेदनीय कर्म, ४. मोहनीय कर्म, ५. आयुकर्म, ६. नामकर्म, ७. गोत्रकर्म, ८. अन्तराय कर्म ।

१. **ज्ञानावरणीयकर्म**—यह आत्मा के ज्ञानगुण को आच्छादित करता है । जैसे नेत्रों पर पाटा बाँध दिया जाय तो दिखायी नहीं पड़ता । इसके पाँच भेद हैं—मतिज्ञानावरणीय कर्म, श्रुतज्ञानावरणीय, अवधिज्ञानावरणीय, मनःपर्यवज्ञानावरणीय, केवलज्ञानावरणीय । इसके २ भाव हैः—क्षायिक व क्षायोपशमिक । सर्वथा आवरण हटकर ज्ञान का पूर्ण प्रकट होना अर्थात् केवलज्ञान होना क्षायिक भाव और अन्य चार ज्ञान होना क्षायोपशमिक भाव हैं । बन्ध में से कुछ क्षय और कुछ उपशम हो, वह क्षायोपशमिक भाव है ।

२. दर्शनगुण को आच्छादित करने वाला दर्शनावरणीय कर्म है, इसे प्रतिहार के दृष्टान्त से समझना चाहिये । जैसे राजा के दर्शन करने की इच्छा वाले को प्रतिहार–द्वारपाल रोक लेता है, वैसे ही आत्मा की दर्शन शक्ति को यह कर्म रोक लेता है । इसके नव भेद हैः—चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण, केवलदर्शनावरण, निद्रा, निद्रानिद्रा,

प्रचला, प्रचलाप्रचला, स्त्यानर्द्धि । इसके तीन भाव है—क्षायिक भाव, क्षायोपशमिक भाव, औदयिक भाव । केवलदर्शन सम्पूर्ण कर्म का क्षय होने से व अन्य तीन—चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन क्षयोपशम होने से होते है । मोहोदय मे कारण रूप है । निद्रा पञ्चक उदयरूप हैं ।

३ वेदनीय कर्म आत्मा के अव्याबाध गुण को हरण करने वाला, साता व असातारूप है । इसमे भी दो भाव हैं, मधुलिप्त असि के जैसा है । साता मधुरूप व असाता असि—तलवार स्वरूप है ।

४ मोहनीय कर्म दो प्रकार का है—दर्शनमोहनीय, चारित्रमोहनीय । दर्शनमोहनीय के तीन भेद है—मिथ्यात्वमोहनीय, मिश्रमोहनीय, सम्यक्त्वमोहनीय । इसका स्वभाव मद्य-मदिरा के जैसा है । मिथ्यात्वमोहनीय का स्वरूप—इसके उदय से प्राणी शरीर से प्रीति रखने वाला, इसका विश्वास करने वाला, अनीति का प्रेमी, पुण्यफल का अभिलाषी, जीवाजीवविवेकहीन, स्वपर से अज्ञात, बाह्य संयम, तप, अहिंसा का पालक, आन्तरिक ज्ञान व भक्ति से शून्य होता है । यह मिथ्यात्व जिनेश्वरदेव की कृपा से ही किसी प्राणी का दूर होता है । प्राय सम्पूर्ण विश्व के अधिकाश जीव इसी मिथ्यादर्शन वाले है ।

मिश्रमोहनीय—इस दृष्टि वाले जीव वीतरागदर्शन पर न राग रखते हैं न द्वेष । जैसे नारियल द्वीपवासी जीव अन्न न मिलने से नारियल ही खाते है, परन्तु उनका अन्न पर द्वेष या राग नहीं होता । वैसे ही ये जीव भी होते है ।

सम्यक्त्वमोहनीय—इस दृष्टि वाले जीव सम्यग्दृष्टि होते हैं । सम्यक्त्व के उपशम, सवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्तिक्य इन पाँच लक्षणयुक्त, शरीरादि परभावों से विरक्त, उत्तमनीतियुक्त, ज्ञान दृष्टिसम्पन्न, नि शकित्वादि दर्शन के आठ आचार के पालक, अतरग व बाह्य शान्तिवान्, इन्द्रिय सुखों से विमुख, मुक्ति के सम्मुख रहते हुये, अपनी ज्ञान दृष्टि में वर्त्तते हुये, पापों का नाश करने वाले देवगुरु धर्म के प्रति प्रशस्त राग युक्त होने से सम्यक्त्वमोह वाले होते हैं । मिथ्यात्वदलिक तो

है, पर उज्ज्वल होते हैं । सर्वथा दलिकों का नाश न होने से ये क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन वाले हैं । पवित्र श्रद्धायुक्त रुचि वाले होने पर भी कभी कभी शंकादि ५ अतिचार लग जाते हैं, अतः क्षायिक सम्यक्त्व नहीं होता । क्षायिक मे दर्शनमोह का सर्वथा नाश हो जाता है ।

चारित्रमोहनीय—इसके २५ भेद हैं । बन्ध के सत्तावन भेदों मे २५ कषाय के नाम आ गये हैं । इस कर्म के उदय से जीव को देश या चारित्र नहीं आता ।

५. आयुः कर्म के चार भेद हैं—नरकायु, तिर्यगायु मनुष्यायु देवायु । इसको कारागार के समान बतलाया है । यह भव-विपाकी कर्म है, अर्थात् एक भव मे भोगा जाता है । जिस गति का आयु बँधता है, उसमे उतने काल तक जीव को रहना पड़ता है, जैसे कैदी को कारागार मे ।

६. नामकर्म के ९३ या १०३ भेद हैं । इनमे १४ पिड प्रकृति कहलाती हैं ।

४ गति—नरक, तिर्यग्, मनुष्य, देव ।

५ जाति—एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पञ्चेन्द्रिय ।

५ शरीर—औदारिक, वैक्रियक, आहारक, तैजस् और कार्मण ।

३ अंगोपांग—औदारिक, वैक्रियक, आहारक ।

१५ बन्धन—१ औदारिक औदारिक २ औदारिक तैजस् ३ औदारिक कार्मण ४ औदारिक तैजस् कार्मण, ५ वैक्रियक वैक्रियक ६ वैक्रियक तैजस् ७ वैक्रियक कार्मण ८ वैक्रियक तैजस् कार्मण ९ आहारक आहारक १० आहारक तैजस् ११ आहारक कार्मण १२ आहारक तैजस कार्मण १३ तैजस तैजस १४ तैजस कार्मण १५ कार्मण कार्मण ।

५ संघातन—औदारिक, वैक्रियक, आहारक, तैजस, कार्मण ।

६ संघयण—वजऋषभनाराच, ऋषभनाराच, नाराच, अर्द्धनाराच, कीलिका, सेवार्त्त या छेवटा ।

६ संस्थान—समचतुरस्र, न्यग्रोध, सादि, वामन, कुब्ज, हुण्डक ।

५ वर्ण—कृष्ण, नील, रक्त, पीत, श्वेत ।

२ गन्ध—सुरभि-सुगन्ध, दुरभि-दुर्गन्ध ।

५ रस—तिक्त, कटु, कषाय, अम्ल, मधुर ।

८ स्पर्श—कठोर, मृदु, गुरु, लघु, शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष ।

४ आनुपूर्वी—नरकानुपूर्वी, तिर्यगानुपूर्वी, मनुष्यानुपूर्वी, देवानुपूर्वी ।

२ विहायोगति—शुभविहायोगति, अशुभविहायोगति । यों १४ के ७५ उत्तर भेद होते है ।

८ आठ प्रत्येकप्रकृति—पराघात, उच्छ्वास, आतप, उद्योत, अगुरुलघु, तीर्थंकर, निर्माण, उपघात ।

१० त्रसदशक—त्रस, वादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, सौभाग्य, सुस्वर, आदेय, यश कीर्त्ति ।

१० स्थावरदशक—स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, अस्थिर, अशुभ, दौर्भाग्य, दु स्वर, अनादेय, अयश कीर्त्ति ।

पाँच वन्धन मानने से ९३ और १५ वन्धन लेने पर सर्व १०३ भेद हैं । सत्ता उदय उदीरणा बन्ध आदि कर्मग्रन्थादि से जानना चाहिये ।

७ गोत्र कर्म— इसे दो भेद हैं—उच्चैर्गोत्र, नीचैर्गोत्र । यह आत्मा के अगुरुलघु गुण को आवरित करता है ।

८ अन्तराय कर्म—इसके पाँच भेद हैं—दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय और वीर्यान्तराय । यह आत्मा की अनन्त शक्ति का रोधक है ।

आठ कर्मों में प्रत्येक की उत्कृष्ट स्थिति —	जघन्य स्थिति
ज्ञानावरणीय कर्म ३० तीस कोडाकोडी सागरोपम	अन्तर्मुहूर्त्त
दर्शनावरणीय कर्म की—तीस कोडाकोडी सागरोपम	अन्तर्मुहूर्त्त
वेदनीय कर्म की—३० तीस कोडाकोडी सागरोपम	१२ मुहूर्त्त
आयु कर्म की—तेतीस सागरोपम	अन्तर्मुहूर्त्त
मोहनीय कर्म की—सत्तर कोडाकोडी सागरोपम	अन्तर्मुहूर्त्त
नामकर्म की—बीस कोडाकोडी सागरोपम	आठ मुहूर्त्त
गोत्र कर्म की— ”	”
अन्तरायकर्म की—तीस कोडाकोडी सागरोपम	अन्तमुहूर्त्त

रस बन्ध उत्कृष्ट रस सर्वघाति प्रकृति का होता है । देशघाति का मध्यरस, अघाति का हीन रस होता है । वर्ण गन्ध और स्पर्श से रस अनन्त गुण होता है । जब तक रस अनन्त नहीं होता तब तक कर्म का बन्ध नहीं होता ।

प्रदेश बन्ध, अष्ट वर्गणा—औदारिक वर्गणा, वैक्रियक वर्गणा, आहारक वर्गणा, तैजस वर्गणा, भाषा वर्गणा, श्वासोच्छ्वास वर्गणा, कार्मणवर्गणा । ग्राह्य व अग्राह्य दोनों प्रकार की अनन्त वर्गणाएँ हैं । विस्तार अन्य ग्रन्थों मे है; यहाँ नाम निर्देश मात्र है ।

आत्मा मोहकर्म के पाश मे आबद्ध हुआ आठों कर्मों का बन्ध करता है । सर्वन्यून आयुष्कर्म के दलिक, उनसे अधिक नाम व गोत्र कर्म के, उनसे अधिक ज्ञानावरणीय दर्शनावरणीय और अन्तराय के, उनसे अधिक मोहनीय कर्म के और उससे भी अधिक वेदनीय कर्म के दलिको का बन्ध करता है । उदय मे कम अणुदल आते हैं । सरस नीरस भोजन के दृष्टान्त से वेदनीय समझना चाहिये ।

सर्वघाति परमाणु अधिक और देशघाति परमाणु थोड़े बाँधता है । जीव की अनन्त शक्ति से परिणामों के अनुसार इनका विभाजन तत्क्षण हो जाता है । इस प्रकार बहुत से कर्म दलों से विविध प्रकार का कर्मबन्ध होता रहता है । फिर भी आत्मा के आठ रुचक प्रदेश सर्वदा मुक्त रहते हैं और शेष प्रदेशों को चारों ओर से वेष्टित कर प्रत्येक प्रदेशों के साथ अनन्त अनन्त कार्मण वर्गणा बँधी हुयी है ।

यद्यपि पुद्गल प्रकट रूप से स्पष्ट दिखायी पड़ते हैं और चेतन गुप्त रहता है । इसका कारण है पुद्गल रूपी है और जीव अरूपी है, फिर भी पुद्गल ज्ञाता नहीं, वह अचेतन है, जीव चेतन होने से ज्ञाता है वह लोकालोक को जानने की ज्ञान शक्ति से सपन्न है और देखने की भी अनन्त शक्ति युक्त है किन्तु अनादि काल से कर्मो से बद्ध होने पर भी निश्चयनय की दृष्टि से मुक्त और व्यवहारनय की अपेक्षा से कर्मबद्ध है । आत्मा के तीन गुण ज्ञान दर्शन चारित्र सदा अक्षय हैं और ज्ञान का समूह है । अपने चित् स्वभाव को आत्मा कभी नहीं छोड़ता ।

॥ "इति द्वितीय अधिकार" ॥

तृतीय अधिकार
(पूर्वार्द्ध)

पुद्गल द्रव्य का वर्णन कर अब संक्षेप से जीवद्रव्य का वर्णन करते है । तीनो काल अर्थात् अतीत वर्तमान और अनागत में जो सदा चेतनावान् और ज्ञानादि गुणो की सम्पत्ति से सम्पन्न रहता है, पर पुद्गल से सर्वथा भिन्न अलिप्त रहता है, वह जीव है । वह न कर्म का कर्त्ता है न भोक्ता, स्वात्मधर्म से युत, असख्य प्रदेशवान्, चेतना मे रमण करने वाला, अस्ति आदि छह प्रकार के गुण युक्त, परभाव-पुद्गल-विषय कषायादि से भावित होने पर भी सदा स्वभाव मे ही निवास करने वाला, स्व पर भाव और भव-ससार की भीति से मुक्त, अनन्त आनन्दमय, सत्, सत्तायुक्त, अक्षय, रत्नत्रय का स्वामी और देवों में चन्द्र के समान है । (यहाँ श्रीमद् का स्वनाम युक्ति निवेशित है ।)

जीव द्रव्य के चार पर्याय होते है—स्वभाव, विभाव, द्रव्य और व्यञ्जन । अगुरुलघु गुण में विकार-स्वभाव । षड्गुण हानिवृद्धि रूप द्रव्य, नर नारक तिर्यग और देव विभाव पर्याय है इसे परपर्याय कहते है । मतिज्ञानादि रूप व्यञ्जन पर्याय है अर्थात् इनके द्वारा चेतना की व्यक्ति होती है । पूर्ण स्वभाव द्रव्य और व्यञ्जन इन पर्यायों से युक्त जीव चरम शरीर की त्रिभागन्यून अवगाहना से युक्त वाला सिद्धावस्था (मुक्ति) मे रहता है । ज्ञानादि अनन्त चतुष्क व्यक्त हो जाने से पूर्ण व्यञ्जनपर्याय, सदा स्वभाव पर्याय, मात्र आत्म द्रव्य स्वरूप बन जाता है । वहाँ स्वरूप का कर्त्ता भोक्ता और स्वामी बनकर अनन्तकाल पर्यन्त उसी रूप मे रटता है ।

प्रश्न—एक द्रव्य एक समय मे एक ही क्रिया का कर्त्ता है । दो द्रव्य एक क्रिया नहीं कर सकते और न दो क्रिया एक द्रव्य करता है । यहाँ शिष्य प्रश्न करता है—कि अशुद्ध निश्चय की अपेक्षा से आत्मा रागादि समूह से व्याप्त होकर तद्रूप बनकर कर्म का बन्ध करता है, उसका उदय होने पर व्यवहार से वेदक स्वभाव ग्रहण कर गत समय मे की गयी कर्म बन्ध रूप क्रिया का फल भोगता है । कृत कर्म भोगते हुए

नवीन का बन्ध करता है । तब एक समय मे दो क्रिया एक ही जीव द्रव्य कैसे करता है ? इस विषय मे मुझे सन्देह है; अतः कृपया इसे स्पष्ट समझाइये ।

उत्तर—शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा से आत्मा स्वभाव का ही कर्त्ता है । ज्ञानस्वरूप वीतराग वीतद्वेष होने पर गुणराशि—रत्नत्रय की वृद्धि होती है । किन्तु कर्मबद्ध आत्मा पर सयोग के कारण विभाव मे रमण करने वाला अज्ञान का ही मानो गृह बना हुआ है । अतः द्रव्यतः कर्म की उपाधि लगी हुई है । इसी कारण दोनों कार्य–बन्ध और भोग एक साथ करता हमे भासित होता है। सभी द्रव्य अपने ही स्वरूप मे रहते हुये स्वरूप के ही कर्त्ता भोक्ता होते हैं । अनादि काल से कर्म–संग के वश हो आत्मा परभाव कर्त्ता भोक्ता बन गया है । भोग और बन्ध वास्तव मे एक सामयिकी क्रिया नहीं, एक जीवद्रव्य की क्रिया है, और मिथ्यात्व अविरति कषाय आदि के कारण कर्म का बन्ध कर कर्म फल को भोगता है । ऐसे भोग और बन्ध साथ–साथ होते रहते हैं ।

अज्ञानी जीवों को रागादि परभाव आत्मा के ही दिखाई पड़ते हैं, परन्तु वे वास्तव मे आत्मा के नहीं । क्योंकि रागादि द्रव्य कर्मों का अवरोध कर जो आत्मा निर्मल बोध–ज्ञान को प्राप्त कर लेता है । अर्थात् सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चरित्र युक्त आत्मा रागादि दोषों का नाश करता हुआ केवलज्ञान, केवलदर्शन प्राप्त कर लेता है ।

सम्यग्दर्शनादि युक्त ध्याता आत्मा भेदज्ञानपूर्वक ध्यान करता हुआ कर्म का बन्ध–अनुभाव व स्थिति रूप बन्ध नहीं करता । वह आत्मा के ज्ञान को क्रोधरूप न मानकर ज्ञान को ज्ञानरूप, क्रोधभाव को क्रोधमय मानता है । वास्तव मे है भी ऐसा ही । ज्ञानस्वरूप आत्मा मे क्रोधादि राग द्वेष मोहादि नहीं है, क्योंकि वे आत्मा का स्वभाव नहीं, कर्म के स्वभाव रूप हैं । शुद्धात्मध्यान मे वस्तु स्वभाव का ध्यान किया जाता है । ऐसा भेदज्ञान युक्त ध्यान कर्त्ता कर्मबन्ध से मुक्त रहता है । अशुद्ध, मोहादि कर्म को ग्रहण नहीं करता । जीव–चेतनमय है, कर्म रागादि पुद्गल रूप है । श्री जिनेश्वर भगवान् ने द्रव्यों के गुण और कार्य भिन्न–भिन्न बताये है ।

जब आत्मा ज्ञान द्वारा जीव व कर्म का स्वरूप जान लेता है, तब कर्म आने के हेतु मिथ्यात्व अविरति और कषाय योग के आश्रव का त्यागकर सवररूप प्रवृत्ति करता है, कर्म का बन्धन मिट जाता है । फलस्वरूप खेद भी नहीं रहता कि मेरे कर्म बँध रहे हैं । अत त्याग अनिवार्य रूप से आदरणीय है ।

ज्ञाता जीव त्याग मे विलम्ब नहीं करते । वे सन्त जन आत्म शुद्धि करने वाले निजगुणों–चारित्रादि को ग्रहण कर उनमे लीन हो जाते है ।

परगुण—वर्ण गन्ध रसादि जो त्याज्य है उन्हे त्याग देते है । आत्म–गुणों से विरुद्ध मिथ्यात्व कषाय अविरति से विरक्त होकर ज्ञानादि मे रमण करता है और मोहनीय के सुभट–क्रोधादि हास्यादि और वेद उससे दूर पलायन कर जाते है । स्वआत्मा के ज्ञानादि रग मे लीन होने से पुद्गल की क्रीडा से दूर, स्त्री से विमुख उसका स्पर्श भी न करने वाला श्रुताभ्यास ध्यानादि मे मग्न रहता है । ऐसे शुद्ध जीव कर्म स्वभाव के कर्त्ता नहीं होते, वे शान्तरस के अथाह सागर मे अवगाहन करते हैं । अत भेदज्ञान, त्याग आदि अनिवार्य अग हैं । इनके बिना मुक्ति नहीं हो सकती ।

उपदेश—हे मूर्ख ! चेतन । व्यर्थ विकल्प न कर, चित्त मे क्रोधादि के विचार सकल्प सदा दु खप्रद होते हैं । मात्र आत्म–स्वरूप का विचार करो और परायी वस्तुओं–विषयादि की खोज को दूर से त्याग दो । इस मानव भव को पाकर सम्यग्दर्शन प्राप्त करने का प्रयत्न करो । वही श्रेष्ठतम वस्तु है, इसको पालने से जीव का ससार भ्रमण अधिक से अधिक अर्द्धपुद्गल परावर्तन जितना रह जाता है जो अनन्त अतीतकाल की तुलना में नगण्य सा है । आत्मस्वरूप मे निश्चल प्रीति रखने से शीघ्र ही रत्नत्रय के सारे आवरण दूर होकर आत्मा ब्रह्मस्वरूप बन जाता है अर्थात् सिद्ध बुद्ध मुक्त हो जाता है ।

कुछ लोगों का कहना है कि रागादि चेतन से भिन्न नहीं, अनादि काल से एक रहे हैं, वह अनुरागी कैसे नहीं रहेगा ? सदा राग भाव मे ही रहता है, अत रागादि का तादात्म्य सम्बन्ध है । इसका उत्तर है कि

इससे तो मुक्ति का ही अभाव हो जायगा क्योकि जो बँधा नहीं है तो फिर मुक्ति कैसी ? और मुक्ति के अभाव में आत्मा का भी अमरत्व, शुद्धत्व, चेतनता, ज्ञानमयता आदि का भी अभाव होगा ! किन्तु ऐसा है नहीं, चेतन व जड़ का स्वभाव स्पष्ट अनुभव हो रहा है । अतः तथ्य यही है कि चेतनसत्ता पृथक् और जड़सत्ता पृथक् है, जड़ सग-मिथ्यात्व के कारण से रागादि का सम्बन्ध रहता है और वे जड़ पुद्गल रूप है । कर्म के ही रूप है, आत्मा के स्वभाव या रूप नहीं, अतः अनन्त प्रकार के रागादि विकल्प करते हुये अपनी सीमा ज्ञानादि से बाहर निकलकर क्यों कर्म बंधन किया जाय ? समस्त विकल्पो को छोड़ नित्य एक स्वात्म का अनुभव करे तो कर्म का बन्धन न होकर नवीन भव ही नहीं करना पड़े । यह ज्ञान, स्वपर-भेद का ज्ञान परमात्मभाव मे रमण कराने वाला भवतरु का छेदक है । परमात्मा ही ध्येय और आदेय ग्रहण योग्य है, मुनिजनों के मन का आधार है ।

वीतराग जिनेश्वरदेव ने आत्मा का हितकर यह श्रेष्ठ उपदेश दिया है कि स्व-ज्ञानादिगुण का ग्रहण मुक्ति, और परभाव-रागादि मे रहते हुये स्वगुण का त्याग ही ससार है ।

जीव का वास्तविक स्वरूप निश्चय से सिद्धात्माओं के समान है जहाँ इन्द्रियाँ, कर्म का प्रपञ्च, मनोवाक्काययोग, कर्म के हेतु, मार्गणा गति आदि का खेद, ध्यानध्याता का भेद, वचन की प्रवृत्ति आदि कुछ भी नहीं है । आत्मा सदैव शान्त, ध्रुव, निरुपाधि, पर-पौद्गलिक व्याधि मुक्त, परद्रव्य से सर्वथा भिन्न है, आत्मा मे उसका लेश भी नहीं हुआ, न काम है । ऐसा ज्ञानज्योति से दीप्त ज्ञानदर्शन चारित्र का ज्ञाता शुद्ध रूप से नित्य मेरे सग है, अर्थात् मै ऐसा सिद्ध स्वरूप हूँ, यह भावना ही आत्म भावना है इसे ही भेदज्ञान कहते हैं । इस प्रकार के भेदज्ञान वाला साधक जीव और कर्म का भेद हंस के समान क्षीरनीरवत् पृथक् करके, मोह का विनाश कर देता है और आत्मा के ज्ञानादि गुण का ग्रहण करता है । शुद्ध रूप बनकर वीर के सदृश विजय प्राप्त कर अपने आप मे स्थिर हुआ, स्वय आनन्दरूप अपना ही ध्यान, आप ही ध्येय और आप ही ध्याता, ऐसे तीनो का ऐक्य हो जाने से शुद्ध ज्ञान की द्विगुण वृद्धि हो

जाती है और कर्म का प्रवाह रुक जाता है, जिससे राग द्वेष न्यूनतम हो जाते है । भव समुद्र के तीर पर पहुँच जाता है ।

स्याद्वाद दृष्टि से चेतन का स्वरूप जैनदर्शन मे इस प्रकार है— आत्मा सद्रूप होने से 'उत्पादव्यय ध्रोव्ययुक्त सत् इस सद् लक्षण युक्त है । गुणो व पर्यायो मे प्रत्येक समय उत्पाद व्यय और ध्रुवता होती रहती है । आत्मा स्वरूप की अपेक्षा से, एक भी है और सत्ता की अपेक्षा से अनेक भी है । कर्त्ता और अकर्त्ता भी है । भोक्ता अभोक्ता भी है । वह बुद्ध-ज्ञाता शुद्ध ब्रह्मरूप मतिज्ञानादि चेतना स्वरूप है । पूर्ण प्रकाश केवलज्ञान होने पर सिद्ध रूप वन जाता है । ऐसा शुद्ध चेतन क्षणिक शरीर की सगति से नट के समान इस ससार रूप क्रीडाङ्गण मे विभिन्न प्रकार के शरीर धारण कर नित्य नये खेल करता रहता है, यह कैसा विस्मयकारी है । यहाँ प्रश्न होता है कि अत्यन्त जाति भेद होने पर भी जीव और जड का पारस्परिक सम्बन्ध कैसे हो रहा है ?

उत्तर—विषय, पुद्गल-मिथ्यात्व कषायादि भाव जीव को मूर्च्छित कर देते है, जैसे मदिरापान से बुद्धिविभ्रम हो जाता है वैसे ही कर्मवद्ध आत्मा भी स्वभान भूला हुआ रहता है । मोहनीयादि कर्मो की प्रकृतियाँ चुम्वक के समान आकर्षण गुण वाली हैं, इनके कारण नव नव कर्मपुद्गल आकर आत्मा के चिपक जाते हैं । और ज्ञानावरणीयादि कर्म आत्मशक्ति ज्ञानादिगुणों को ढँक लेते है, अज्ञान से विकल वने हुए चेतन को कर्मो की जञ्जीर से बाँधकर अन्य कर्म ससार मे भ्रमण कराते रहते हैं ।

यहाँ प्रश्न होता है कि क्या जड पुद्गल के अणुओं मे इतनी शक्ति होती है कि वह अनन्त वलशाली आत्मा के ज्ञानादिगुणो को आवृत करके उसकी चेतना शक्ति को पूर्णतया मूर्च्छित कर दे ?

उत्तर—जी हाँ । इसे दृष्टान्तो से समझिये—जैसे कोई पुरुष सदाचारी है, किन्तु मद्यपान कर लेने पर वह उन्मत्त हो, अकार्य तत्पर होता है, अत्यधिक पान कर लेने पर मूर्च्छित तक हो जाता है, वैसे ही आत्मा भी दर्शनावरणीय कर्म के उदय से स्त्यानर्द्धि-निद्रावश हो निगोदादि में मूर्च्छित ही रहता है । ज्यों ज्यो दर्शनावरणीय कर्मभोग देकर

उससे हटता है, त्यों त्यों उसकी मूर्च्छा घटने लगती हैः फिर भी प्रभावित बना हुआ ऊँघता रहता है । वैसे ही आत्मा भी पंचेन्द्रियत्व प्राप्त कर लेने पर भी मोह–मिथ्यात्व के प्रभाव से अनभिज्ञ रहकर अकार्य मे रागादि में तत्पर होता रहता है । विकास में ब्राह्मी आदि पदार्थों के समान ज्ञान, दया, दान, सहनशीलता के प्रभाव से बुद्धि के विकास के सदृश ज्ञानादि का भी विकास होने लगता है । वास्तव मे चेतन के साथ अज्ञान का अनादि सम्बन्ध है । ऐसा न मानने पर सभी कार्य ज्ञान तप सयम मुक्ति आदि आकाश पुष्पवत् असम्भव हो जाते हैं । जीव के साथ कर्म का सम्बन्ध अनादि होने पर भी वह अपना स्वरूप और विभाव की अनादि सत्ता मानने पर तो एकता (जीव कर्म की) का प्रसङ्ग उपस्थित हो जाता है और द्वैतभाव (पृथक् सत्ता) ही नहीं रहता । फिर तो ज्ञान के समान ही सदा कर्म का भी सम्बन्ध रहना चाहिये ।

उत्तर—स्वर्ण खान मे से निकलता है, वह अनेक अतिरिक्त मिट्टी आदि से मिला हुआ रहता है; किन्तु अग्नि के सम्बन्ध से सारी मिलावट दूर होकर स्वच्छ स्वर्ण रह जाता है । जीव कर्म का सम्बन्ध अनादि अनन्त नहीं, अनादि सान्त है; क्योंकि हेतु मिलने पर टूट जाता है । ऐसा भव्य के होता है । जाति भव्य और अभव्य के कर्म का सम्बन्ध अनादि अनन्त होता है । वहाँ पृथक् करने के हेतु का अभाव रहता है । जो आत्मा सम्यग्–दर्शन प्राप्त कर लेता है वह, स्वभाव का कर्त्ता माना जाता है । वह व्यवहारनय की दृष्टि है । शुद्धनय की दृष्टि से तो आत्मा सदैव स्वभाव का ही कर्त्ता है पर–परिणाम का नहीं । कर्म ही उस आत्मा के स्वभाव को शक्ति को अपनी ओर खेचकर अपने कार्य मे लगाता है; अतः कर्म मल को दूर करने पर शक्ति व्यक्त हो जाती है, तब आत्मा स्वाभाविक क्रिया करने लग जाता है और मुक्त हो जाता है ।

असद्भूत भावकर्म का कर्त्ता निश्चय से जीव नहीं है । व्यवहारनय सदा जीव और कर्म दोनों का ग्राहक है ।

यहाँ शिष्य प्रश्न करता है–भगवन् ! जीव और कर्म व्याप्यव्यापक भाव से है या अन्य भाव से ? कर्म का कर्त्ता जीव निश्चय से नहीं है तो वह फिर द्रव्य कर्म–पुद्गल कैसे करेगा ? क्योंकि चेतन तो पृथक्

सत्तावान् है जहाँ व्याप्य भाव होता है, वहाँ तन्मयता होती है ? जैसे ज्ञानादिगुण उपर्युक्त भाव से आत्मा के है । कर्म, जीव का व्याप्य-व्यापक कहना अनीति है, क्योंकि कर्म जड, और आत्मा चेतन है । दोनों का उपर्युक्त भाव हो नहीं सकता । अत जीव कर्म का कर्त्ता कैसे माना जाय ? यदि मानो तो दोनों का अनादि अनन्त सम्बन्ध भी मानना होगा । तब मुक्ति का ही अभाव हो जायगा । अत हमारी शका दूर करने की कृपा कीजिये ।

उत्तर—आत्मा के कर्म जनित अशुभ परिणाम ही कर्म के निमित्त है और वैसे अशुभ परिणामों के निमित्त पूर्वकर्म है, जो आत्मा के साथ अनादिकाल से बद्ध है । दोनों का परिणामो और कर्मो का हेतुहेतुमद् भाव है । पर भावों की अज्ञानदशा के कारण भ्रमवश जीव, स्वभाव समझता रहता है । जैसे चुम्बक की आकर्षण शक्ति का निमित्त कारण लौह है, लौह के आकर्षण का निमित्त चुम्बक है, किन्तु चुम्बक और लौह पृथक् पृथक् हैं । वैसे जीव और कर्म पृथक् होते हुये भी सयोग होने से परस्पर आबद्ध होते रहते है । निश्चयनय की अपेक्षा से दोनों स्व स्व धर्म के ही कर्त्ता और भोक्ता है ।

मीमासक मत

इस मत की मान्यता है कि, जीव ब्रह्म पृथक् है और प्रकृति ही सुख दु ख, ससार भ्रमण, जन्म मरण, मुक्ति आदि की कर्त्री है । ब्रह्मस्वरूप जीव इनका न कर्त्ता है न भोक्ता ।

जैन दर्शन की मान्यता—यदि जीव सर्वथा पृथक् ही है, तो प्रकृति का सम्बन्ध कैसे होता है ? प्रकृति ही ससार भ्रमणादि एव मुक्ति, दोनों क्रिया कैसे कर सकती है ? क्योंकि प्रकृति जड स्वरूप है, वह सुख दु खादि की निमित्त हो सकती है, यह सत्य भी है किन्तु मुक्ति की कर्त्ता प्रकृति नहीं हो सकती । सुख दु खादि प्रकृति के कार्य और मुक्ति आत्मा का कार्य है । कर्त्ता अपना कार्य कर सकता है और भोक्ता भी वही है । प्रकृति का कार्य—मुक्ति नहीं, क्योंकि मुक्ति रूप कार्य का भोक्ता आत्मा है, अत मुक्ति आत्मा का कार्य है । हम निश्चयनय की दृष्टि से ब्रह्म-आत्मा को सदा ज्ञान का कर्त्ता भोक्ता मानते है । मुक्ति का कर्त्ता

भी आत्मा को मानते हैं; किन्तु व्यवहारनय की दृष्टि से कर्म का भोक्ता और कर्त्ता भी स्वीकार करते हैं । ब्रह्म, प्रकृति का सम्बन्ध भी अनादि है । ऐसा होने पर भी ब्रह्म जब सुषुप्ति मे से जागृतावस्था मे आता है, तब स्वय से प्रकृति को पृथक् समझकर उससे मुक्त होने का प्रयत्न करता है और मुक्त होता है ।

ब्रह्मवादी मत

इनके मत में ब्रह्म एक है और वह सदा अखण्ड ध्रुव ज्ञान मुद्रा धारक ब्रह्मलोक मे निवास करता है । जगत् मे जितने जीव हैं, वे सब उसी के अंश है । वे जीव जड़ और ज्ञाता दोनों प्रकार के हैं, ये ही नये–नये शरीर धारण कर ससार मे भ्रमण करते हुये सुख दुःख भोगते रहते हैं । उस पूर्ण ब्रह्म की जब इच्छा होती है, तब उस अश को अपने मे मिला लेता है । इस प्रकार शुद्ध ब्रह्म स्वाधीन है । उसे कर्मवश सुख दुःख होता है; ऐसा कौन कहता है ? वह तो नित्य मुक्त है । वैसे ही अश भी होते हैं ।

जैन दर्शन द्वारा उक्त मत का निराकरण—

ब्रह्म का स्वभाव इच्छातीत रहित होता है, वह दोषों से मुक्त, शिव रूप माना गया है । इच्छा स्वयं ही दोष रूप है । आत्मा असंख्य प्रदेशी है । त्रिकाल अखण्ड प्रदेश युक्त रहता है । वह अश रूप से पृथक् होता है, तो अखण्ड कैसे ? और अश खण्ड रूप बनने का क्या हेतु है ? इच्छा को हेतु मानोगे तो इच्छा दोष रूप होने से शुद्ध ब्रह्म की मान्यता कैसे होगी ? अतः ब्रह्म आत्मा अनन्त है । वे सभी चैतन्य स्वरूप, ज्ञानपुञ्ज, नित्यानित्य भाव युक्त, शुद्धनय की अपेक्षा से पर–भाव के अकर्त्ता अभोक्ता हैं । उनमें जो कर्म सहित हैं, वे विभाव–काम क्रोधादि के वशीभूत हो रहे हैं; वे संसारी हैं, जन्म मरण के चक्र मे निरन्तर भ्रमण करते हुये चारों गतियों मे कृत कर्म के भोग स्वरूप सुख दुःख भोगते रहते हैं । जो कर्म मुक्त हो गये हैं, वे शुद्ध, सिद्ध, बुद्ध, मुक्त मात्र ब्रह्म स्वरूप हैं । सारांश कि जीव अनन्त है, स्वतन्त्र सत्ता वाले हैं । किसी एक ब्रह्म के आधीन नहीं ।

बौद्धमत की मान्यता—

बौद्ध क्षणिकवादी हैं । इनकी मान्यता है कि ससार के सभी पदार्थ जीव भी क्षणस्थायी है । जो जीव प्रथम क्षण में था, वह द्वितीय क्षण में नहीं रहता । जो प्रथम क्षण मे कर्त्ता रूप है, वह पलट जाने से भोक्ता भी अन्य हो जाता है । वे पर्याय को ही सर्वतोभाव से द्रव्य मान लेते है और अपने इस आग्रह के कारण जीव के अखण्ड-ज्ञानगुण की धारा को ही काट देते हैं ।

जैनदर्शन की अपनी मौलिकता है । वह वस्तु-द्रव्य को नित्य सदा काल स्थायी मानता है । द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से द्रव्य नित्य है, पर्यायार्थिकनय से अनित्य है । परिवर्तन पर्याय में होता है न कि द्रव्य में । यदि जीव द्रव्य क्षण क्षण मे नया नया बने तो स्मरण की श्रृखला छिन्न-भिन्न न हो जाय । चैतन्य का स्मरण ज्ञान अखण्ड धारा रूप है, उसका प्रवाह रुक जाने पर यह स्मरण कि 'अमुक कार्य मैंने अतीत समय में किया था' 'यह मेरा किया हुआ है' 'भविष्य में मै अमुक कार्य करूँगा' इत्यादि । क्योंकि बाल्यावस्था मे किया गया कार्य युवा और वृद्धावस्था में भी स्मरण मे आता रहता है । एकान्त रूप से जीव को क्षणिक मानने से यह कैसे सम्भव होगा ? अत क्षणिकवाद युक्तियुक्त नहीं । एक द्रव्य मे उत्पाद व्यय और ध्रौव्य की मान्यता सत्य व युक्तियुक्त है । द्रव्य ध्रुव निश्चल रहता है, पर्यायों में प्रत्येक समय उत्पाद व्यय होता है ।

नैयायिकमत और उसका निराकरण

नैयायिक उद्यम को प्रधान मानता है, उसका कहना है कि सभी कार्य पुरुषार्थ से होते हैं । सन्तानोत्पत्ति, कृषि, उद्योग, शिल्प, भोजन आदि सभी कार्य पुरुषार्थ से सम्पन्न होते हैं । भाग्य की पूर्वकृत शुभाशुभ कर्म की मान्यता मिथ्या है । पुरुषार्थ के बल पर ही सब कुछ होता है । इसीलिए हम विश्वनाथ ईश्वर को जगत् का कर्त्ता मानते हैं । उसी प्रकार सभी जीवों के उद्यम को ही सर्व कार्य के सम्पन्न होने मे स्वीकार करते है ।

स्याद्वादी जैनसिद्धान्त ऐसी एकान्त बात नहीं कहते है । जैन भाग्य, पुरुषार्थ आदि सभी को स्वीकार करते हुए वर्तमान व्यावहारिक कार्यों के उद्यम को आत्मा का शुद्धकार्य स्वीकार न कर पूर्वकर्म जनित सस्कार का फल मानते है । चैतन्य का शुद्ध वीर्य जाग्रत होने पर तो वह परभाव-व्यावहारिक कार्यों का कर्त्ता ही नहीं रहता । कर्म के उदय से जो उद्यम होता है, वह तो कर्म का ही बन्ध कराता है । आत्मा का वास्तविक उद्यम रत्न-त्रय-ज्ञानदर्शन-चारित्र को जो निजगुण है; उन्हें उज्ज्वल बनाने का होता है । जीव और जड़ के भेदज्ञान के अभाव मे आत्मा. मे परभाव समस्त व्यावहारिक कार्य का स्वामित्व कर्तृत्व और भोक्तृत्व का अहंभाव—'मै कर्त्ता भोक्ता हूँ' रहता है ।

कालवादी मत विमर्श

कालवादी का कहना है कि जगत के सभी कार्य काल के आधीन हैं और समय पाकर ही होते हैं । मनुष्य भी समय पाकर बालक से तरुण बनता है, तरुण वृद्ध बनता है । ऐसे ही सभी वस्तुये—वृक्षादि भी समय पाकर फलते फूलते हैं । काल के प्रभाव से ऋतु परिवर्त्तन, जन्म मरणादि भी होते हैं । साराश कि सुख दुःख, रवि चन्द्र ग्रहादि का उदयास्त, जन्म मरण, संसार भ्रमण और मुक्ति भी कालाधीन है ।

जैनदर्शन काल, स्वभाव, नियति, पूर्वकृत और पुरुषार्थ इन पांचों समवायों के मिलने पर सभी कार्यों का होना स्वीकार करता है, "वह इन पाँचो मे से एक का भी अभाव हो तो कार्य नहीं होता" ऐसा मानता है । केवल एक का ग्रहण एकान्तवाद है, जो मिथ्या है अतः स्याद्वाद दृष्टि से ही यथार्थ ज्ञान होता है । किसी एक पक्ष को ग्रहण करने से वस्तु का ज्ञान नहीं होता । सभी पक्षों से देखना विचारना चाहिये । चार प्रमाण, सप्तनय, चार निक्षेप, और सप्तभङ्गी से वस्तु के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान होता है ।

मीमांसक कर्म को व वेदान्त ब्रह्म को मानते हैं । वे मात्र द्रव्यार्थिक नय ग्रहण करते हैं । क्षणिकवादी पर्यायार्थिकनय मात्र ग्रहण करते हैं । नैयायिक कर्मवादी हैं और उद्यम के पुरुषार्थ के ही पक्षपाती हैं । शैव कालवादी हैं । पाँच समवाय मे से केवल काल को ही लेते हैं । इस

प्रकार से सभी अशग्राही है । स्याद्वादी सर्वग्राही है और एक ही वस्तु को अनेकता से ग्रहण करते है, अर्थात् पूर्णता से जान सकते है । अशग्राही तो उन सात चक्षुहीनों के समान है, जो हाथी का एक-एक अवयव-शुण्डा, गजदन्त, पद, पुच्छादि पकडकर उतना ही गज मान बैठते है । चक्षुयुक्त मनुष्य तो सर्वाङ्ग सम्पूर्ण गज को देखता है और उसे ही गज स्वीकार करता है । मात्र अग विशेष को नहीं । उसी प्रकार अनेकान्तवादी भी वस्तु की पूर्ण जानकारी को ही वास्तविक ज्ञान स्वीकार करते हैं ।

प्रकृति को ही मुख्यरूप से स्वीकार करने वाले, व्यवहार नयग्राहक मात्र हैं । एकान्त ब्रह्मवादी निश्चयनय को ही ग्रहण करते है । क्षणिकवादी पर्यायार्थिक नयमात्र के और उद्यम-पुरुषार्थवादी भी इसी के ग्राहक हैं, कालवादी की भी वास्तव मे यही मान्यता है ।

यथार्थ मे ये सभी जीव के परिणाम है । प्रकृति-कर्मजनित व्यवहार है । निश्चय से प्रत्येक आत्मा नित्य, ज्ञान स्वरूप है । पर्यायनय अध्रुव-अनित्य होने से सूक्ष्म और परिवर्त्तनशील है, पुरुषार्थ आत्मा का कर्तृत्व स्वभाव है । भले वह स्वाभाविक हो या वैभाविक । जो कि आत्मा के सम्यग्ज्ञान और मिथ्याज्ञान पर निर्भर है । काल प्रवाह रूप चक्रगति वाला है । इस प्रकार आत्मा-जीव अनेक अगयुक्त है । किसी एक अग को ही ग्रहण न कर सर्वाङ्गग्राहक ही बुद्धिमान् है । एक ग्राहक बुद्धिहीन है या कुबुद्धि है । बुद्धिमान् व्यक्ति युक्तियुक्त, प्रमाणसिद्ध, वस्तुज्ञान को स्वीकार करते है । और स्याद्वाद ही ऐसा करने मे समर्थ है, एकान्तवाद नहीं ।

स्याद्वाद का स्वरूप

१ स्यादस्ति २ स्यान्नास्ति ३ स्यादस्तिनास्ति ४ स्यादवक्तव्य ५ स्यादस्ति अवक्तव्य ६ स्यान्नास्ति अवक्तव्य ७ स्यादस्तिनास्ति युगपद् अवक्तव्य । यहाँ स्यात् का अर्थ कथचिद् किसी अपेक्षा से किया है । कदाचित् नहीं ।

१ स्यादस्ति जीव । जीव कथचित् है, अर्थात् स्वद्रव्यक्षेत्रकालभाव की अपेक्षा से है ।

२ स्यान्नास्ति जीवः । जीव कथंचित् नहीं है, अर्थात् परद्रव्य क्षेत्र काल भाव की अपेक्षा नहीं है ।

३. स्यादस्तिस्यान्नास्ति जीवः । जीव कथचित् है, कथचित् नहीं है । अर्थात् जीव मे स्वद्रव्यादि से अस्तित्व और परद्रव्यादि से नास्तित्व है । यहाँ क्रमशः विधि और निषेध की विवक्षा की गयी है ।

४ स्यादवक्तव्यो जीवः । जीव कथचित् अवक्तव्य है । जहाँ विधि निषेध दोनों की एक साथ विवक्षा होती है, तब दोनों को एक साथ बताने वाला कोई शब्द न होने से 'जीव को' अवक्तव्य कहना पड़ा है ।

५ स्यादस्ति अवक्तव्योजीवः । केवल विधि और एक साथ विधि निषेध की विवक्षा होने से 'जीव है और अवक्तव्य है' यह भंग बनता है ।

६ स्यान्नास्ति अवक्तव्यो जीवः । 'जीव नहीं है और अवक्तव्य है' यहाँ निषेध मात्र तथा एक साथ विधिनिषेध की विवक्षा होने से ऐसा कहा जाता है ।

७ स्यादस्तिनास्ति युगपत् अवक्तव्योजीवः । यहाँ क्रमशः विधिनिषेध दोनो की और एक साथ विधि निषेध दोनों की विवक्षा से 'जीव है, ' 'नहीं है' और अवक्तव्य है ।

इसी प्रकार जीव विषयक नित्य, अनित्य । सत्, असत् । वक्तव्य, अवक्तव्य । एक अनेक आदि सभी अभिमत हैं। द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा से जीव नित्य भी है, तो पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा से अनित्य भी है । इसी प्रकार अन्यत्र भावना कर लेनी चाहिये । ऐसा यह सच्चिदानन्द आत्मा ज्ञान दर्शन चारित्र की साधना से स्वरूप को प्रकट कर पूर्ण शुद्ध सच्चिदानन्दमय बनकर सदा के लिए सिद्ध बुद्ध मुक्त बन जाता है ।

श्रीमद् ने जीवस्वरूप का निरूपण इस तृतीय द्वार के पूर्वार्द्ध मे किया है । अब तृतीय द्वार के उत्तरार्द्ध मे जीव को कर्ममुक्त करने की साधना का निरूपण कर रहे हैं ।

तृतीय द्वार का उत्तरार्द्ध

जीव को नवीन २ गुणमय जानना सविकल्पज्ञान है । एक चिन्मय स्वरूप का ध्यान कर्मनाशकारक है, निर्विकल्प ज्ञान है ।

आत्मा अनादिकाल से अज्ञानी बना हुआ, रागद्वेषरूप मदिरापान करता रहा है, इससे अज्ञान मे महान् वृद्धि होती रही और विषयकषाय ने वशीभूत कर आत्मा के ज्ञानगुण को अवरुद्ध कर दिया तब विभाव ने अपना साम्राज्य विस्तृत कर लिया है । निर्विकल्प शुद्ध आत्म स्वरूप के ध्यान के प्रताप से साधक आत्मा, अज्ञान के प्रबल प्रताप को नष्ट कर देता है, कर्म की श्रृखला को तोड मरोड डालता है, अज्ञान के साम्राज्य को छिन्न भिन्न कर ज्ञान का साम्राज्य स्थापित कर लेता है, अत निर्विकल्प ध्यान ही मुक्ति का हेतु है । यही ध्यान ज्ञान का धाम, असीम आनन्दमय, कर्म के पाश को तोडने वाला, अनन्तवीर्यशक्ति सम्पन्न, क्षायिक भाव के योग्य, उज्ज्वल परिणामो से युक्त, मोह का नाशक, आत्मा का रक्षक है । उसी का अवलम्बन लेकर अपने ज्ञान का प्रसार करना चाहिये । आत्मा के स्वरूप को प्रकट करने मे यही ध्यान एकान्त रूप से हेतु है । यह अज्ञानतम और त्रयताप को नष्ट करने वाला है ।

यह शरीर भी हेय-त्यागने योग्य है । अनादि अनन्त ज्ञान ज्योतिर्धर, निज को पर का कर्त्ता मानता हुआ, अज्ञान का निवास स्थान बन गया है, उसे स्वरूप का भान तक नहीं रहा । ज्ञान-दृष्टि छूट जाने से शरीर पर ही चेतन की भ्रान्ति हो गयी है । मै पर का-पुद्गल कर्म का 'कर्त्ता हूँ' ऐसा भ्रम हो गया है । जैसे वारुणी पी लेने पर मानव भान भूल जाता है, वैसे ही मोह की मदिरा पीकर आत्मा भी भान भूल रहा है, स्व पर का भेद करने का ज्ञान नही है । हे आत्मन् । जैसा इन्द्रिय विषयों के भोग पर अनुराग है, वैसा आत्मज्ञान पर अपने चित्त मे अनुराग रख । यही मुक्ति का मार्ग है । दृढ़ धारणा कर कि जो रूपी है—(शरीरादि) वह मै नहीं हूँ । मै तो अरूपी चिन्मय हूँ । अत समस्त पर-भाव को छोडकर एक मात्र आत्मा के स्वरूप का विचार कर, जिससे इस देह का ममत्व छूटे और आत्मतत्त्व पर दृढ़ विश्वास हो जाता है । यह शरीर नश्वर है, इसे अपना मानने वाला मूर्खशिरोमणि है । यह तन पुद्गल-जड का पिण्ड है, तू आनन्दमय चेतनरूप है । यह अनमेल मिलन अर्थात् जड चेतन का मिलान न जाने किस प्रकार हो गया है । हे चेतन । तू वैसे मास, अस्थि, रुधिर, मलमूत्रादि देखकर घृणा करने लगता है । किन्तु

उन्हीं मासादि के समूह शरीर को अपना मान कर उसके बाह्य स्वरूप पर मोह करता है । यह तेरी कितनी अधिक घोर अज्ञानदशा है ! अतः हे चतुर ! विचक्षण ! तुम इस शरीर का मोह छोड़ दो, इसका मोह तुम्हें आतुर–आकुल–व्याकुल बनाता है; किन्तु यह गन्धर्वनगर के समान–अर्थात् आकाश मे बादलो की नगर रचना के सदृश क्षणभङ्गुर देखते–देखते नष्ट हो जाने वाला है । रूप की शोभा भी बादलों की छाया के समान क्षणिक है। इस तन मे बहुत दिनों के शव (मुर्दे) की सी दुर्गन्ध आती है, यह रोगादि दूषणो का घर कहा गया है । अतः शरीर की ममता छोड़ दो तो तुम मे आत्मज्ञान की ज्योति जगमगा उठे । देहादि की ममता छोड़ उसे आत्मा से भिन्न अनुभव कर आत्मा मुक्ति के समीप पहुच जाता है । इस शरीरादि पर–वस्तुओं पर अपनत्व का अभिमान रखना ही भव भ्रमण का मूल है ।

निस्पृह भाव रखना ही श्रेयस्कर है । निस्पृह भाव ही पापनाशक, मुक्तिमार्ग का साथी, पक्षपात से सर्वथा विमुक्त, अध्यात्मनृपति, परमसुख रूप श्रेष्ठ भेदज्ञान भाव का धारक, परभाव का हरण करने वाला कर्मनाश का उपाय तन, मन, स्त्री पुत्रादि, धन–सम्पत्ति, शरीर की शैशव, यौवन, वृद्धत्वादि अवस्थाओं को पर मानने वाला, मोह का द्रोही, कामदेव की सैन्य को विजय करने का अवसर (चान्स) है । निस्पृह भाव मे नरक की भीति और सुरलोक की प्रीति दोनों ही नहीं रहती । यह भवरीति—ससार के जन्म मरण, सुख दुःखादि से रिक्त है ।

स्व–स्वरूपगत दृष्टि मे रहा हुआ व्यक्ति इन्द्र पद की भी अभिलाषा नहीं रखता तो सामान्य मानव ऐश्वर्यादि की चाह उसे नहीं होती । उसके मन मे इन सबके प्रति कोई उत्साह नहीं रहता ।

दुर्बुद्धि जन ही अनुपम आत्म सुख से परिभ्रष्ट होकर विषयों के प्रति अपने मन मे रति रखते है; जैसे शूकर निर्मलजल से भरे सरोवर को छोड़कर कीचड़ मे रमण करता है ।

योगीजन तो योग यम नियमादि अष्टाङ्ग साधन मे निरत रहते हैं । अथवा योग–चित्तवृत्ति निरोध से परमज्योतिर्मय आत्मानुभव का आस्वादन करने में लीन रहते है । और विषय भोगों को कुत्सित अन्न के सदृश घृणास्पद तथा अनित्य समझ कर त्याग देते है ।

उठने दो । ऐसा करने वाला ही सादि अनन्त और महान् आत्म-सुख का अनुभव करता हुआ अभय हो, श्रेष्ठ प्रधान मोक्षपद को प्राप्त करता है ।

परगुण-विषय कषायादि के अभिमुख ज्ञान वाला चेतन परवश हो जाता है । स्वगुण ज्ञानादि के अभिमुख रहने वाला आत्मगुणों में लीन बना हुआ स्वतन्त्रता का अनुभव करता है ।

अत ज्ञान को स्थिर करने का उपाय है देह ममत्व का त्याग । जैसी प्रीति देहादि पर है, वैसी चेतनगुणों-ज्ञानादि पर हो जाय तो फिर बन्धन नही होता । वास्तव मे आत्मा अबन्ध भेदज्ञान से बनता है ।

भेदज्ञान का चिन्तन इस प्रकार करें—जडता स्वभाव वाले देहादि मेरे नहीं, मोहमदोन्मत्त जीव ही इन पर ममत्वभाव रखते हैं । मैंने तो स्वरूप का भान कर लिया है, इससे ऐसे परद्रव्य—देहादि मेरे धन नहीं, मैं इनका स्वामी नहीं हूँ, मैं तो ज्ञानादि गुणों का स्वामी हूँ, ये ही अभग स्वरूप वाले मेरे सदैव सग रहते है । अत अन्तरग कषायादि और बहिरग-देहादि जो पर है, उनका सग छोड कर इन्द्रियसुख प्राप्ति की परछाँई भी अपने ऊपर न पडने दूँगा । ऐसे दृढ़ सकल्प वाला हे चेतन । तू बन जाय तो तुझे कर्मपुञ्ज का बन्धन कभी नही होगा ।

वस्तुत, आत्मा निष्क्रिय है, किन्तु जैसे निष्क्रिय लौह अयस्कान्तमणि-चुम्बक का सयोग पाकर सक्रिय हो जाता है—उस चुम्बक की ओर खिचता है, वैसे ही सकर्मा आत्मा जिसके कर्म रोग लगा हुआ है, वही सक्रिय बनता है, कर्ममुक्त आत्मा नहीं ।

आत्मा स्वरूपत शुद्ध बुद्ध चिदानन्द निर्द्वन्द्व मुकुन्द—निष्पन्द प्रमोद-आनन्दकन्द, अनादिअनन्त निर्मल परब्रह्म पूर्ण परमज्योति, परम अगम, अक्रिय, महाशान्त-अविनाशी, अज, परमात्मा, सुजान, जिन, निरजन, अम्लान, सिद्ध भगवान् है, किन्तु कर्मसग से ज्ञान को भूलकर पुन पुन कर्म की ही सगति करता हुआ कस्तूरीमृगवत् ससार अरण्यानी में भ्रमण कर रहा है ।

जिसे आत्मज्ञान हो जाता है, वह चेतन की धारा मे लीन रहकर स्वय को "कर्म व कर्म के कार्य से पृथक् हूँ, स्याद्वाद भावयुक्त सदा महान् हूँ ।" इस प्रकार ज्ञानदृष्टि और उत्तम निर्दोष चारित्रयुक्त

आत्मस्वरूप की एकता करता हुआ कर्मबल का शोषण कर मुक्त बन जाता है । किसी-किसी को सन्देह होता है कि एक आत्मद्रव्य मे तीन गुण ज्ञान-दर्शन-चारित्र कैसे रहते हैं ? उसका समाधान निम्न प्रकार से समझना चाहिए ।

जैसे सुवर्ण मे पीतत्व, स्निग्धत्व और गुरुत्व निरन्तर रहते हैं । अग्नि मे दहनत्व, पचनत्व, तपनत्व ये तीनों विशेषताये सदा रहती हैं । जल मे शीतलता, द्रवता, निर्मलता ये तीन स्वाभाविक गुण हैं, जो सदा रहते हैं । उसी प्रकार आत्मा में भी तीनों गुण—ज्ञान दर्शन, चारित्र सदैव रहते है । निश्चय से उपर्युक्त तीन द्रव्यों—सुवर्ण, अग्नि और जल मे उनके कथित गुण उनमे अभेद-तद्रूप से नित्य विद्यमान रहते हैं, वैसे ही आत्मा के तीन गुण सदैव उसी मे हैं, कभी पृथक् नहीं हो सकते ।

व्यवहारनय की दृष्टि से श्रुतादि रूप मे पृथक् की कल्पना की जाती है । अभ्यास द्वारा प्राप्त होते हैं ऐसी मान्यता की जाती है। किन्तु वास्तव मे चेतन की शक्ति रूप मे चेतन मे ही है, अभ्यास से प्रकट होते हैं । ये गुण-सवेदनादि अन्य द्रव्य मे हैं ही नहीं अतः जड़ को कितना ही अभ्यास करावे तब भी उसमे से किसी भी प्रयत्न द्वारा प्रकट नहीं किये जा सकते ।

जब आत्मा अज्ञान दशा मे रहता है तब मोहकर्म काम-भोग का लालच देकर अपने वश में कर लेता है और आत्मा काम-भोग के लिए सदा विकल रहता है । भेदज्ञान—जीव और जड़ को पृथक् मानकर ज्ञान, मोह के प्रभाव को दूर कर देता है । इस प्रकार भेदज्ञान निर्दोष अमल अखण्ड धारावाही रूप से सद्बुद्धि आत्मा करता है यही ध्यान कर्म के जाल को नष्ट करने मे प्रबल कारण है । इसे करने पर आत्मा अकल सकल अन्य से सर्वथा भिन्न, जगत् मे रहा हुआ भी जल मे कमलवत् निर्लेप रहता है ।

एकआत्मबुद्धि मुक्ति और देहात्म एकत्वबुद्धि ससार, भव भ्रमण बढ़ाने वाली है अतः देहबुद्धि त्याग कर स्वआत्मगुण-ज्ञानादि से प्रेम करना चाहिए । सुख-दुःख दोनों पुण्य व पापरूप पुद्गलस्कन्ध है, इन पर आत्म बुद्धि रखना ही कर्मबन्ध है ।

यहाँ जिज्ञासु शिष्य प्रश्न करता है कि—

"दुष्ट भाव पाप का हेतु और अच्छा भाव पुण्य का हेतु है" अत दोनों प्रकार के कर्मबन्धन के हेतु पृथक् पृथक् होते है । पाप के उदय से असाता व पुण्य के उदय से साता का अनुभव होता है, दोनों मे क्षार व मिष्ठ के समान स्वादभेद है । पाप कुगति और पुण्य सद्‌गति का दाता है । इनमे ये प्रत्यक्ष ही भेद दृष्टिगोचर होता है । पाप सभी को अनिष्ट और पुण्य सभी को इष्ट लगता है । सक्लेश शुद्धि निर्मल परिणामों से इनका भेद स्पष्ट दिखता है । अत पाप हेय और पुण्य तो उपादेय ही मानिये । इसमे क्या दोष है ?

समाधान—पुण्य पाप दोनों कर्मजाल रूप है, हेतु रस गति फल मे वस्तुत भेद नहीं है, जैसे कम्परोग पाप फल और अकम्परोग पुण्यफल है किन्तु हैं दोनों ही दु खरूप और विनाशी । मिथ्यादृष्टि जीव को ही पुण्य पर रुचि भाव और पाप पर अरुचि भाव उत्पन्न होता है यह उसकी विशेषता है । उसकी ऐसी बुद्धि रहती है । सम्यग् दृष्टि जीव तो दोनों को जड रूप और अज्ञानरूप मानकर आत्मा को इनसे पृथक् देखता है । वह दोनों को ही हेय और मात्र शुद्ध आत्मस्वरूप को उपादेय मानता है ।

पाप से विमुख और पुण्य के अभिमुख रहने वाला सुगति की आकाक्षा रखकर कुगति से भयभीत रहकर 'मै कर्ता हूँ' 'मैंने अमुक कार्य किया' इत्यादि अह बुद्धि से मदोन्मत्त रहता हुआ विपरीत रीति ससार भ्रमण की वृद्धि करता है । वह स्व आत्मा के स्वरूप को नहीं पहचान कर भ्रम भाव मन मे रखता है । देह धनादि को अपना मानता हुआ कर्म का बन्ध करता है । ऐहिक और पारलौकिक मात्र पोद्‌गलिक–भौतिक सुख की ही आकाक्षा रखने वाला मिथ्यादृष्टि है ।

ऐसा मिथ्यादृष्टि आत्मज्ञान से अभिज्ञ होने के कारण पर–जड वस्तुओं मे निजत्व भाव रखता हुआ उसे ही सर्वस्व मानने के भ्रम मे रहता है, कर्म का कहर–गजब–आपत्ति उसी पर आती है वही कर्मबन्ध करता है । चित्त मे वक्रता रखता हुआ सुख की आकाक्षा से मत्त रकवत् नि शक ससार रूपी नगर मे भोग रूप अन्नादि की याचना करता फिरता है । इन काम भोगादि की जो हानि के दुर्गति के स्थान है, अशुचि–जगत्

की वमन की हुयी वस्तु के समान हेय घृणास्पद है, उनसे उसे ग्लानि नहीं होती, जैसे विष खाये हुए व्यक्ति को निम्ब भी मधुर लगता है, वैसे ही मिथ्यादृष्टि को भोग सुखदायी लगते है । वह लोटन कबूतर के समान उलट–उलट कर उलटी चाल से उड़ता है, अपने मिथ्यात्व के कारण सुलटी चाल नहीं चलता अर्थात् सरलभाव के अभाव मे उसकी गति मुक्ति की ओर नहीं होती । पुनः पुनः भोगों की वाञ्छा करने के कारण संसरण ही करता रहता है ।

मिथ्यादृष्टि मोहगत जीव को यह भी भान नही रहता कि जीवन अञ्जलिगत नीरवत् क्षण–क्षण सदा कम हो रहा है, यह शरीर और मानसिक शक्ति–स्मरण शक्ति भी क्षण–क्षण क्षीण होते जा रहे हैं । काल के स्वभाव का कभी विचार तक नहीं आता कि यह कभी मृत्यु रूप मे आयगा । दूर–दूर की सोचता रहता है; माता, पिता, भ्राता, भगिनी, पति, पत्नी के संग मे सुख की कल्पना मे लीन, धर्म का रहस्य न जानने के कारण भ्रम से घिरा हुआ, ज्ञानहीन क्रिया करता हुआ पुण्य की रटना लगाये रहता है। "सारे भौतिक सुख क्षणिक और परिणाम–फल मे दुःखप्रद हैं" ऐसा बार–बार सुनता हुआ भी, स्वाभिमुख नहीं बनता । पर जड़ादि के ही सुख को सम्मुख रखता हुआ सदा दुःख में अटता–भ्रमण करता रहता है ।

पौद्गलिक सुखों की–विषयसुखों की प्राप्ति के लिये वह बड़े–बड़े ग्रन्थो का अध्ययन कर विद्वत्ता प्राप्त करके लोकरञ्जनार्थ सुन्दर शैली मे प्रवचन कर यशःभागी तो बनता है; पर मुद्गशैलपाषाणवत् स्वय उस ज्ञान से आर्द्र नहीं बनता, वह आत्मज्ञान रहित ही रह जाता है । मौन धारण करता है, योगसाधना करता है, अश्व व खर–गदहे के समान व्रत नियमादि के बन्धन मे बँधकर कष्ट सहता है । विविध प्रकार के आसन भी सरकस के अभिनेता अभिनेत्री के समान करता है । परलोक के सुखों की अभिलाषा मे इस लोक सुखों का त्याग कर देता है । प्राणायाम की साधना से पवन को साध लेता है, बड़ा हर्षित होता है । यह सब क्रियाएँ बिना आत्मज्ञान के करता हुआ रहने से उसका मिथ्यात्व नहीं हटता क्योंकि लक्ष्य मुक्ति का नहीं, सासारिक भोगों का है । अतः वास्तव में

मिथ्यात्व बुद्धि पापमय-स्तेनवृत्ति है, जो पर-जड की वस्तु का स्तेयकर्म-चोरी करती है । किन्तु चौरवत् बहुत अधिक चोरी की सम्पत्ति एकत्र करता हुआ स्वय के सताप की वृद्धि करके भी अन्त मे एक दिन दण्ड का दु ख का भागी बनता है। अत पर वस्तु सदा हेय और आत्मगुण ही उपादेय है । अहो । कितना आश्चर्य है ।। पर वस्तु भोगादि की प्राप्ति के लिए अज्ञानीजन कौनसा हीन, कौनसा अत्यन्त कष्टकर आचरण नही करते । किन्तु ये सब परभाव है, मेरे नही । ऐसी सुबुद्धि उन्हें नही होती ।

वचन, युक्तियाँ, चित्त, शरीर की कान्ति, मन की स्थिति, सकल्प विकल्पादि, हित अहित, रति अरति, अन्तपुर-नगर श्रेष्ठ भोजन वस्त्र आदि सब वस्तुयें जो नयनगोचर हैं, और पुण्य-पापादि गायन नृत्यादि स्त्रीपुरुष नपुसक वेद, इत्यादि सभी तो हेय हैं, इनमें नित्य सयोग वियोग होता रहता है, ये आत्मा के स्वरूप नहीं, पुद्‌गल के रूप है जो बनते बिगडते रहते हैं, इनमे ममत्व ही आत्मा के भ्रमण का मुख्य कारण है । आत्मा तो सदैव अक्षर ज्ञानादि गुण युक्तअपने ही गुणों का स्वामी है, वही मात्र उपादेय है ।

पुण्य व पाप दोनों ही पुद्‌गल दल है, गुड, खल, मिट्टी का ढेला और मणिरत्न सब जड-पुद्‌गल का व्यक्ति भेद हैं । अर्थात् पुद्गल ही विविध रूप में दिख रहे है, अत पुण्य पाप दोनों का अवरोध करने से स्व का बोध होता है, वही पाने पर समस्त व्याधियाँ नष्ट होकर समाधि होती हैं, रागद्वेष रूप दोष दूर हो जाते हैं । जैसे ईन्धन का अभाव होने पर अग्नि स्वय बुझ जाती है, बीज के अभाव मे वृक्ष नही बनता है, मूल बीज नष्ट हो जाने पर वृक्ष सूख जाता है, उसी प्रकार भाव कर्म-रागद्वेष-बुद्धि का नाश हो जाने पर ज्ञान चेतना प्रकाशित हो जाती है और आत्मा श्रेष्ठपद-सादि अनन्त स्थिति वाले सिद्धपद को वरण कर लेता है ।

हे आत्मन् । अनादिकालीन कर्म उपाधि के बन्धन के कारण ही तुम्हारी प्रीति पर-जडादि पदार्थों से लग रहीं है, और वस्त्र पर नीलरगवत् जीव पर रागद्वेष का रग लगा हुआ है इसीलिये तुम जड की

सम्पत्ति अपनी स्थापन कर दूसरे की पूँजी दबाकर रखने की चेष्टा कर रहे हो तो यह तो स्पष्ट ही चौर्यकर्म है जो तुम्हारे करने योग्य नहीं है और इसी कारण तुम ब्रह्मस्वरूप होकर भी जड़ संग से कर्म के कर्त्ता बन गये हो, ऐसी मूर्खता क्या त्यागने योग्य नहीं है ?

जैसे रेशम का कीड़ा या मकड़ी अपने ही मुँह से निकली हुयी लाल या रेशे रूप जाल मे बँध जाते हैं; वैसे ही आत्मा भी अपने भाव से बँध जाता है ।

नित्य आत्मा को ईश्वरकृत मानने वाले ज्ञानविहीन मत–क्रियावाद के मत मे मत्त बने हुये, ईश्वर की इच्छा से आत्मा का भवभ्रमण–स्वर्ग नरक तिर्यञ्च मनुष्यगति मे गमनागमन कहते हैं, विविध योनियों मे उत्पत्ति स्थिति और प्रलय–मरण मानते हैं । उन्हें सर्वज्ञ वीतराग जिनेन्द्र के उपासक कहते हैं कि ईश्वरकृत और ईश्वरेच्छा से भ्रमण न करके आत्मा स्वय ही कृत कर्म के अनुसार सुगति कुगति मे भ्रमण करता है, कृत कर्म का भोक्ता भी आत्मा ही है । अन्यकृत अन्य नहीं भोगता,यह तो प्रत्यक्ष ही देखते हैं । वस्तुतः आत्मज्ञान मे जीव अज्ञानी बना हुआ, विविध भाँति के कार्य करने से कर्म बाँधता हुआ, कर्मफल भोगता हैं । सप्तधातुमय शरीर के सग बधा हुआ है ।

शंका—एक ही कार्य को अनेक कर्त्ता करते और अनेक कार्यो को एक ही कर्त्ता करते दिखलाई पड़ते हैं । ऐसे ही जीव भी स्व पर आदि आदि कार्यो का कर्त्ता है और जीव का कर्त्ता ईश्वर है । ऐसी मान्यता रखने मे क्या दोष है ? और जीव भी पर का कर्त्ता माना जाय तो क्या हानि है ?

समाधान—ईश्वरकर्तृत्वादि मान्यताओं का निराकरण युक्ति आदिपूर्वक पहले कर चुके हैं । यहाँ तो जीव को पर का कर्त्ता मानने का प्रश्न विचारणीय है । पर का कर्त्ता जीव को मानने पर तो आत्मा और जड़ का कभी विभेद ही नहीं हो सकेगा, न जीव मुक्त होने योग्य सिद्ध हो सकेगा । और यह किसी भी आस्तिक दर्शन को अभीष्ट नहीं;

अत आत्मा स्वस्वरूप का ही कर्त्ता है, पर रूप जडादि का नहीं । हाँ । जब तक आत्मा को स्वरूप का भान–सम्यग्दर्शन द्वारा नहीं होता तब तक वह स्वय को पर का कर्त्ता मानता रहता है । वास्तव मे कर्म, कर्म का कर्त्ता और आत्मा आत्मगुणों का कर्त्ता है । सभी पदार्थ स्व स्व कार्य के कर्त्ता है ।

यह चेतन अज्ञान दशा में किये गये कर्म के कारण ही दुर्गति मे पडता है, जैसे अन्धा व्यक्ति या उन्मत्त, विष्ठा से भरे गटर मे गिर जाता है ।

आत्मज्ञान ही मुक्ति का कारण है, उसी का ध्यान मुक्ति का हेतु है । आत्मज्ञान के विना मुक्ति कभी नही हो सकती । दान, दया, तप, जप, उपशम, यम–व्रत, इन्द्रियदमन आदि ये क्रियाएँ तुच्छ फल वाली है अत आत्मज्ञान व आत्माभिमुख मुक्ति लक्ष्य से की जाने वाली क्रिया, दोनों का एकत्व करके मन वचन काया के योगों का निरोध करके सिद्धि स्थान–मुक्ति प्राप्त होती है, यही आत्मज्ञान निर्वाण का स्थान है । केवलज्ञान का हेतु है । अन्य सभी आत्म ज्ञा विना के ज्ञान–ध्यानादि क्रियाएँ वाणी मे दोष वाले कहते हैं । दोष मुक्त वचन वीतराग के ही होते हैं ।

आत्मस्वरूप की भावना इस प्रकार की जाती है—

धर्मास्ति एव अधर्मास्तिकाय नामक दो द्रव्य एक, एक और असख्यात प्रदेशी है । काल औपचारिक द्रव्य अनन्त समयात्मक, और आकाश भी अनन्त प्रदेशात्मक है । जीव और पुद्गल अनन्त है । एक एक द्रव्य में अनन्त अनन्त गुण है । एक एक गुण के अनन्त पर्यायों की परिणति होती रहती है । षड्द्रव्यों मे ज्ञाता एक जीवद्रव्य है जो सभी ज्ञेय को जानने की शक्ति वाला है, अन्य सभी ५ द्रव्य अचेतन है । मै चेतन द्रव्य जीव हूँ, मैं अनादि, अनन्त, निर्द्वन्द्व, महानन्दकन्द, महोदयवान् हूँ । आत्मा का वास्तविक स्वरूप चिन्मय है, जो सदैव वैसा ही रहता है । मै भी आत्मा हूँ पर से मेरा क्या लेना देना ?

नवतत्त्व के विकल्प तीनो योगों—मन, वचन, काया के सकल्प, इस आत्मा मे रहते हैं, इनमे योगों मे रहते हुए भी आत्मा नित्य इनसे अस्पृष्ट रहता है, ज्ञानावरणीयादि आठ कर्मों से वेष्टित होने पर भी आत्मा चेतना का स्वामी स्व स्वरूप मे ही रहता है । यह सुमति का स्वामी है, इसमे कुमति का अश भी नहीं, अपने ही ज्ञानादि धन मे मग्न रहता है । परम अखण्ड ज्योति नित्य सद्रूप है । ऐसा जिनेन्द्र कथित आत्म स्वरूप ही देवचन्द्र ग्रन्थकार को इष्ट है । इसी तत्व को जैनशास्त्रों मे नित्य अनित्य, एक अनेक, सद् असद् आदि नयों से बतलाया है, आत्मा सूक्ष्मातिसूक्ष्म, स्थूलातिस्थूल, अरूपी, अगन्ध कहा गया है । लोकालोक मे तीन कालवर्ती होने वाले समस्त द्रव्यो के उत्पाद व्यय ध्रौव्य को ज्ञान से देखने जानने की शक्ति इस आत्म तत्त्व मे रही हुयी है । सकल विश्व उस ज्योति मे समाविष्ट है । ऐसा परमात्म स्वरूप आत्मा उक्त माहात्म्य को धारण करने वाला है । वही परम आनन्दकन्द, देवचन्द्र ने भी जान लिया है ।

यद्यपि जीव अपने पूर्वकृत शुभाशुभ कर्मफल को भोगता है; किन्तु सम्यक् ज्ञान दर्शन युक्त सम्यक्त्वीजीव के बन्ध नहीं होता, क्योंकि वह वैराग्य भावयुक्त है; बन्ध का कारण आसक्ति भाव है; अतः ज्ञाता अबन्धक रहता है ।

शंका—आपने ज्ञाता को काम–भोग, सुख–दुःखादि भोगते हुए भी अबन्धक कहा यह हमारे समझ मे नहीं आता; ज्ञाता को पूर्ण अबन्धक मान लेने पर तो सारा व्यवहार जो मुनि, आर्याएँ श्रावक–श्राविकाएँ जो भी व्रत, नियम, तप, जप, इन्द्रियदमन, दानशील, दयापालन आदि करते हैं; वे सब निष्फल बेकार कही जायेगी । और बेकार होने से ये सब व्यावहारिक क्रियाएँ अत्यन्त कठिन होने के कारण साधकजन छोड़ देंगे । इस प्रकार तो चतुर्विध सङ्घ का ही लोप हो जायगा । फिर तो सभी लोग प्रमाद सहित होकर निष्क्रिय बन बैठेंगे; जबकि जिनागम ज्ञानयुक्त पुरुषार्थ द्वारा ही मुक्ति की प्राप्ति मानता है फिर अकेला ज्ञान मुक्ति कैसे प्राप्त कर सकता है ?

समाधान—तुम्हारी शका उचित है, हमने धार्मिक—क्रिया त्याग

तपादि का निषेध कब किया ? वह तो आश्रव को—नवीन कर्मों के आगमन को रोकने और सत्तागत कर्मों को क्षय करने के लिये आवश्यक ही है । किन्तु वे ज्ञानपूर्वक हों, तभी मोक्षफल दायिका है, अत ज्ञान की प्रधानता है । हम तो क्षायिक सम्यक्त्वी की बात कर रहे है ।

जैसे विषवैद्य जाङ्गुली विष के विकार को जानकर उसका उपचार करके उसे दूर कर देता है । वह स्वय विष को चूसता है, परन्तु वह मूर्च्छित नही होता है । जैसे नाग विषहारक मन्त्र का ज्ञाता अपना अङ्ग नाग के मुख मे डाल देने पर भी स्वय अडकित–दश रहित रहकर नाग से युद्ध करता है, वैसे ही ज्ञाताजन पूर्व कर्म सयोग से भोग तो भोगते हैं, किन्तु अलिप्त भाव मे वर्तने से उसे बन्ध नही होता । चक्रवर्ती भरत, श्रीकृष्ण और श्रेणिक आदि ऐसे ही आत्मा थे । अनासक्त भाव से रहने से भरत को आदर्श भवन मे अनित्य भावना करते हुये केवलज्ञान हो गया । श्रीकृष्ण व श्रेणिक आदि ने तीर्थंकर नाम कर्म बन्ध किया, एकावतारी बने, यह ज्ञान का ही प्रताप था ।

एक और दृष्टान्त से भी इसे समझाते है । जैसे किसी वन मे दावानल लगा । वह फैलते हुए अपनी ज्वालाओं से ग्राम, नगर, वन, उपवन, गिरि आदि को भस्म करने लगा । तब किसी मन्त्र–सिद्धिजन ने मन्त्र द्वारा अग्नि शक्ति को बाँधकर उसे बुझा दिया, फिर सारा ताप मिट जाता है । और इस मन्त्र को जानने वाला स्वयं को अभिमन्त्रित कर अग्नि की दहन तापन शक्ति से अभिभूत न होकर उसमें उछलते कूदते इधर उधर घूमते नृत्य करते है फिर भी वे जलते नहीं, वैसे ही ज्ञाता अपनी बोधशक्ति से बन्ध की शक्ति को अवरुद्ध करके पूर्वकृत निकाचित कर्म को भोगता हुआ भी अबन्ध रहता है ।

प्रश्न—फिर भी शकाशील व्यक्ति कहता है—आपने कहा सो सच है, फिर भी मेरे मन का सन्देह दूर नहीं हो रहा है । मूढ़जन के समान सम्यक्त्वी भी भोगरीति से भोग भोगता हुआ 'अबन्ध है', आपकी यह बात कैसे मान ले ? सर्वथा अबन्ध मानना न शास्त्रसम्मत है न युक्तिसङ्गत ! उपर्युक्त दृष्टान्त व्यावहारिक है, 'मन्त्रशक्ति युक्त पुरुष ऐसा सकते हैं' यह सत्य है किन्तु आत्मा जब तक ससारवर्ती है तब तक

सर्वथा अबन्धक होता नहीं, वीतराग के भी एक सातावेदनीय का बन्ध तो माना ही है फिर चतुर्थ गुणस्थानवर्ती सर्वथा अबन्धक रहता है ! यह कैसे माना जाय ? अतः पुनः स्पष्ट करके समझाने की कृपा करिये ?

समाधान—जैसे कोई सद्गृहस्थ या ब्राह्मण वणिक् किसी राजा की सेवा मे आजीविकार्थ सेवक बनकर रहता है; राजा की आज्ञा हुयी कि मद्य लाओ ? हमे व हमारे परिजन मित्रादि को भी पिलाओ । तब वह आज्ञा पालन के लिए मद्य लाता है, चषक प्याले आदि पात्रों मे भर-भर कर नृपति आदि सबको देता है; स्वयं को तो मद्य गन्ध भी रुचिकर नहीं लगती; किन्तु परवश होने से राजाज्ञा का पालन करता है; वैसे ही पूर्वकृत कर्मवश सम्यक्त्वी जीव ज्ञाता होने पर भी निकाचित भोग्य-कर्म तो भोगता है, किन्तु अरुचिपूर्वक भोगने से निरासक्त भाव के कारण अभिनव कर्म का बन्ध नहीं होता ।

निश्चयनय से आत्मा सिद्ध के समान है क्योंकि जिनेश्वर भगवान् ने सभी द्रव्यों को स्व-स्वभावगत माना है; अतः आत्मा स्वरूप से कर्त्ता स्वभाव का ही है; परभाव-कर्मादि का नहीं ।

सर्वद्रव्य स्वभाव से रहते हुये स्व स्व कार्य करते हैं, कोई द्रव्य अन्य द्रव्य का कार्य नहीं करता; किन्तु अनादिकालीन कर्म सम्बन्ध के कारण मिथ्यात्वबुद्धिवश आत्मा मूढ़ बना हुआ सदा पर-भावलीन उन्हीं विषयकषायादि मे जो परभाव हैं; अहंबुद्धि ममत्वबुद्धि रखता है । कर्म के भ्रम मे पड़ा हुआ आत्मा इस शरीर पर प्रेम बढ़ाता है । जब आत्मज्ञान होता है तब शरीरादि पर-वस्तुओं से प्रेम हट जाता है और यह अनैतिक कार्य त्याग देता है । रागद्वेष को दूर कर सदैव पर-वस्तुओ पर निर्ममत्व बना रहता है । अपना स्वरूप ज्ञानमय जान कर मुनिजन आत्म रीति-ज्ञान-ध्यान मे लीन रहते हुये आत्मा का दर्शन करते हैं ।

इस प्रकार भेद-ज्ञान का अवलम्बन कर स्व-पर का भेद करके परभाव का त्याग कर उन पर से प्रेम हटा लेता है । अखण्ड अनन्त ज्ञानवान् स्वात्म मे चित्त स्थिर कर और सबको भूल जाता है । ज्ञान के बल से कर्म को उखाड़कर प्रबल माया की जञ्जीर को तोड़ मन को उधर से हटा ज्ञान के प्रसार से भविष्य के विकारों को नष्ट कर निर्वाण प्राप्त

कर लेता है यह सब भेद-ज्ञान का अनुपम प्रताप है, भेदज्ञान की समानता कोई नही कर सकता ।

अष्टकर्म वन का दहन कर आत्मा सिद्ध बनता है । उन सिद्धो के समान अपने आत्म स्वरूप को देखने वाले हैं उन्हे 'देवचन्द्र' नमस्कार करता है ।

आत्मा की मुक्ति क्रमश इस प्रकार होती है—

प्रथम ग्रन्थि भेद—रागद्वेष की गाँठ खुलना रूप कार्य होता है । आत्मा मे उपशम भाव आ जाता है । फिर कषायों—अनन्तानुबन्धी का क्षय होने मे और मिथ्यात्व का सर्वथा नाश हो जाने से क्षायिक सम्यक्त्व होता है । कषाय भाव को कम करता हुआ गुणस्थानों को सोपान पक्ति उल्लघन करता हुआ आठवे गुणस्थान में क्षपक श्रेणी से ऊपर आरोहण कर सूक्ष्म सम्पराय-कषाय को नष्टकर मोह का सर्वथा क्षय नाश और अन्य तीन—ज्ञानावरण दर्शनावरण तथा अन्तराय का भी जड से सर्वथा नाश कर आत्मा केवलज्ञान प्राप्त कर लेता है । ज्ञानादि तीन गुणों का स्वामी आत्मा इस प्रकार देवचन्द्र—अरिहन्त पद प्राप्त कर ध्यान, ध्याता और ध्येय के भेद को मूल-जड से नष्ट कर देता है । पुन सूक्ष्मक्रिया को भी ध्यान के द्वारा नष्ट कर अयोगी पूर्णज्ञानस्वरूप बन अपने अर्थ—घन निर्वाण पद को प्राप्त कर लेता है । वहाँ आठों ही कर्म नष्ट हो जाते हैं, आठ गुण प्रकट होकर आत्मा को महानन्द, जो उसका अनादिकाल का साथी है वह प्राप्त हो जाता है । वहाँ मुक्ति स्थान में लोकरीति, हार, जीत, भय, शत्रु, मित्र, प्रीति, द्वेष, आदि सारे कार्य कुछ भी नहीं है । वहाँ आत्मा अयोगी, अभोगी, अवेदी, अछेदी, अलेशी, मात्र आत्म स्वरूप से युक्त स्वभाव का वेदन करने वाला रह जाता है । वहाँ आत्मा पूर्ण शुद्ध रूप बनता है । जब क्षायिक सम्यक्त्व हो जाता है तब आत्मा मे फिर कर्म का रच मात्र का प्रपञ्च नहीं रहता, भोगादि से अत्यन्त अरुचि बढ जाती है । वञ्चक स्वभाव, जो आत्मगुणों को भुलाकर परभाव मे रमण कराता है उसे खेचकर निकाल देता है । शुद्ध स्वभावी बन जाता है । परभाव समुद्र मे चिरकाल से बार-बार शीघ्र रागद्वेष भँवर मे डूबने का चिर कालिक स्वभाव नष्ट कर देता है । ज्ञान

के प्रकृष्ट किरण दीप्त कर अज्ञान–तिमिर का नाश कर देता है । आठ कर्मों के मल को साफ करके आत्मा के आठ गुण वरण कर लेता है । ऐसे परमज्योतिर्मय, सदाकाल जयवन्त रहने वाला, आत्मा अज्ञान तिमिर को नष्ट करने के लिये सूर्य समान है ! यह शुद्ध स्वरूप ही ध्येय है ।

कर्त्ता भोक्ता रूप अभिमान के विचारों का भार उतार कर स्थिर भाव प्राप्त कर लेता है । आत्म गुणो का घात करने वाले घाती–कर्मों के बन्ध को तोड़ डालता है, अमन्द आनन्दकन्द हर्ष के समूह को प्राप्त कर लेता है । फिर शुद्ध, शान्त, अनन्त, अहत—जिसे दूसरा नाश न कर सके अथवा त्रुटिरहित पूर्ण, विचित्रवृत्ति ससारी जीव द्वारा अननुभूत, परज्योति, सत्य, नित्य, सत् रूप रहता है । सर्व भेय अभेय ज्ञेय द्वारा हेय कर–त्याग कर शुद्ध बुद्ध ब्रह्म स्वरूप मेरा आत्मा सदा काल रहा हुआ है । यह आत्म भावना करने से मुक्ति की दशा का अनुभव होने लगता है । यही मुक्ति का मार्ग है । वैराग्य का सौभाग्य उसे ही प्राप्त होता है जो रत्नत्रयी—ज्ञान दर्शन चारित्र है उन्हीं के स्वरूप आत्मा का सवेदन अनुभव करके मोह का उच्छेद करने की प्रणाली ग्रहण कर लेता है । आत्मज्ञान की कला जानने के लिये निर्मल बुद्धि से संवर—सयममय बन जाता है । वह शरीर धारणार्थ और कर्म के उदय से जो सुखदुःखादि होते है, या मन वचन काया की शुभ प्रवृत्ति होती है, वह भी कर्मोदय से होती है ।

'मै कर्म का कर्त्ता भोक्ता हूँ' ऐसा अज्ञान जितने काल तक मुझे रहा उतना काल शुद्धात्म का अनुभव न होने से मै अज्ञान का भवन बना रहा । अब सर्वज्ञ जिनेश्वरदेव के सरस वचनामृत का पान कर शान्त रस का अनुभव कर रहा हूँ । इसी वचन सुधा के चिरकाल पान करने से अनेक आत्मा सुस्थित हो सुधृति धारण कर श्रेष्ठ अजर अमर परब्रह्मपद को प्राप्त कर चुके है ।

वस्तुतः आत्म ज्ञान के अभाव मे स्वय को पर का कर्त्ता–भोक्ता मानता रहता है । एक आत्मा के ज्ञान बिना भव भ्रमण करता है । आत्मा का वास्तविक स्वरूप जिनवचन से जान लेने पर अकर्त्ता अभोक्ता भाव उदित होता है । ये रागद्वेष कर्मोदय के कारण से होते है, "ये मेरी

सम्पत्ति नहीं, मै इनका स्वामी नहीं हूँ" ऐसा भाव चित्त मे धारण करने वाला साधक स्वय को इन से भिन्न मानता हुआ रहे तो वह ससार मे भ्रमण नहीं करता । एक दो भव में अवश्य मुक्त हो जाता है ।

जब तक अज्ञानजन्य गाढ़ अन्धकार रहा मै कर्मबन्ध मे निमित्त बनता रहा, तब तक विभाव ही इष्ट रहे जिससे रागद्वेष की रेखा पर एकीभाव की एकरूप की बुद्धि रही । अब गिरिनदी के उपल के समान चिरकाल से जल के प्रवाह मे टक्करें खाते-खाते उपल जैसे गोल बन जाता है वैसे मैने भी त्रिकरण से भेदज्ञान प्राप्त कर लिया है । तब मैंने पर-जड की रीति त्याग दी और स्वात्म-पूर्ण ब्रह्म से अब मेरी विच्युति व विकृति नहीं रही, अपने ज्ञानादि गुणों को वरण करने से ध्रुव निश्चल बन गया हूँ । ऐसा सकल्प करने से शीघ्र मुक्त होता है ।

अहो ! मैं अनादि काल से अज्ञान निद्रा मे लीन सुप्तावस्था मे पर जड वस्तुओं का ही चिन्तन इच्छा और भोग करता रहा । किसी शुभ कर्म के उदय से जाग्रत होकर तत्वज्ञान भी पाया, किन्तु जैसे दरिद्र को सम्पत्ति मिल जाने पर वह अहकारी बन जाता है, वैसे मुझे भी अहकार हो गया कि मैं ज्ञानी बन गया हूँ । उसी अहभाव के कारण कर्तृत्व भोक्तृत्व बुद्धि का भ्रम हो गया और ज्ञान असद् बन गया । शुद्ध आत्मा का विचार नहीं किया ।

आत्म ज्ञान अत्यन्त गहन विषय है । आत्मा विराट् और अनहद किन्तु अस्पृष्ट, स्पृष्ट, निरन्तर स्पृष्ट रूप से बाह्यात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा रूप मे है । आत्म स्वरूप की विभूति अनन्त और शान्त है, वह प्रकट हो जाने पर जिसकी जड पुद्गलपदार्थों से प्रीति नष्ट हो जाती है, उसे ही स्याद्वाद द्वारा स्वानुभूति का आस्वादन कर आनन्द होता है । वह ज्ञानादि अगण्य सम्पत्ति के महाभोग मे लीन हो जाता है । वह बुद्धिनिधान निर्वाण स्थान सम्प्राप्त करने को सदा सावधान-अप्रमत्त हो जाता है ऐसा ही अप्रमत्तभाव हमारा इष्ट है ।

आत्मज्ञान के बिना महाव्रत पालन, तप करना, आतापना लेना, यम नियम आसन प्राणायामादि योग साधना का प्रबल अभ्यास करना, क्षुधा, तृषा शीत ताप भूमिशयन अनुकूल प्रतिकलादि बाईस परिषहों मे भी

अचल रहना, इत्यादि सर्व साधनाएँ निष्फल निर्नायक सैन्यवत् (मुक्ति फल की अपेक्षा) रहती हैं। एक आत्मा के जान लेने पर सब जान लिया जाता है—"जे एग जाणइ, से सव्व जाणइ" ऐसा आगम वाक्य है। अतः भेदज्ञानयुक्त आत्म ज्ञान से ही सफल होता है। अतः निरन्तर अनन्त तेजःपुञ्ज से शोभित, ज्ञानमय दृष्टि से अज्ञानमल रहित अचल अमल तत्त्व का ही ग्रहण करना चाहिये, इससे ससार कर्दम मे रहता हुआ भी आत्मा कमलवत् निर्लेप रहता है। आत्मानुभव के सुख की तुलना मे इन्द्र चन्द्र चक्रवर्ती पद के सुख सुधा के सामने छार के स्वाद के समान हैं। "मै परमात्मा स्वरूप हूँ" अर्थात् जैसा परमात्मा है, वही मेरा स्वरूप है। 'सोहं' के ध्यान से ही वह अगम परब्रह्मगम बनता है—जानने योग्य बनता है। अन्तरात्मा इसी मे लीन बनते हैं।

सम्यग्दर्शन रहित बहिरात्मा, सारे आगमों का अभ्यास कर जगत मे अभिमान से विचरते हैं; स्वयं को पण्डित कहलाने में गौरव का अनुभव करते हुये विविध भाँति के वाद विवाद करते रहते हैं। वे अचेत हैं। उनका देहाध्यास—देहात्म एकत्व भाव छोड़ते नहीं। केवल पढ़ने लिखने से समझ लेने से कुछ नहीं होता। उसका पढ़ा हुआ पाठ (तोता रटन्त) मात्र ही रहता है।

मैं बहुत समय पर्यन्त अज्ञानी रहने से अपने रूप को ही भूल गया था; वह अब स्मरण मे आ गया यह वीतराग की वाणी का ही प्रताप है; मैं भी हूँ तो संसार मे ही, किन्तु सबके-परभाव के मध्य रहता हुआ भी भव के जाल से मुक्त हो गया हूँ। मै सत्य ज्ञान चेतनावान् अत्यन्त उज्ज्वल सान्त अनन्त सज्ज्ञान मुझे मिल गया है। हे सज्जनो ! आप भी उन ज्ञानबीज निरजन अक्षय अनुपम स्याद्वादमय श्री जिनवचनो का वास्तविक रहस्य जानने का प्रयत्न करो।

आत्मा से आत्मज्ञान को मथन करे तब भानु के प्रकाश के समान आत्मज्ञान की ज्योति प्रकट हो जाती है और क्षण क्षण बढ़ने लगती है। जैसे बाँसो का परस्पर घर्षण करने पर अग्नि प्रकटती है, वैसे ही आत्मज्ञान से ऐसी ज्योति प्रकट हो जाती है। इसी कारण आत्मज्ञानी आत्ममगन, देशविरति सुव्रती है, और महाव्रतधारी भी क्षपकश्रेणी पर

आरोहण करते मुक्ति सदन मे पहुँच जाते है । अत आत्मज्ञान के अतिरिक्त अन्य मुक्ति मार्ग नही है । सच्चे साधक तो आत्मपाठ ही पढ़ते हैं ।

आत्मा की सुप्त दशा जैसे रज्जु में सर्प का भ्रम हो जाता है वैस ही अज्ञानी मिथ्यादृष्टि को देहबुद्धि रहती है वह शरीर पर ही आत्मबुद्धि रखता है । इससे उसका भ्रम बढ़ता ही रहता है ।

अज्ञान के चक्रव्यूह मे फँसा हुआ आत्मा मद्यपी के समान अन्य की स्त्री रूप जड वस्तुओं को पकडने दौडता है । भव-रागद्वेष की लौह बेडियों मे जकडा हुआ आत्मा अज्ञान निद्राधीन रहकर ज्ञानदृष्टि के तेज को दबा देता है । इससे परवस्तु पर, आत्म बुद्धि रखकर भयभीत हुआ स्वय को भी उन्हे अर्पित कर देता है, उन्हें ही परम मित्र मानता है । इस प्रकार अपने गुण प्राप्त किये बिना आत्मा अनन्त भव भ्रमण करते हुए स्वगुण को तिरोहित करता रहता है ।

ज्ञानचेतना की जाग्रत दशा

ज्ञानचेतना जाग्रत होने पर आत्मा की अपनी अनन्त शक्ति—"जिसमें लोकालोक समा सकते हैं" जाग्रत हो जाती है। इस आत्मा का स्वरूप जान लेने पर षड्द्रव्य के सभी भाव जान लेता है । क्योंकि ये षड्द्रव्य आत्मा के अनुगामी कहलाते है क्योंकि आत्मा ही मात्र चेतन द्रव्य है शेष तो अचेतन जड हैं । एक आत्मा के जाने बिना सर्वशास्त्रों की जानकारी केवल श्रम है । नि सत्व बुद्धि रहती है । अन्य शास्त्रों का अभ्यास तुष-खण्डनवत् निष्फल है । ज्ञानहीन क्रिया भी इसी प्रकार निष्फल है । उस आत्मज्ञान का अनुभव होने पर ससार का भय पलायन कर जाता है, आत्मा पर विश्वास और अनन्त प्रेम जाग उठता है । जैसे सूर्योदय होने पर सारा जगत् जगमगा उठता है, अन्धकार का नाश होने पर घटपटादि सभी पदार्थ दृष्टिगोचर होने लगते है, उसी प्रकार आत्मज्ञान के तेज से रागद्वेष की ग्रन्थि टूट जाती है, अभिनव कर्म नहीं लगते और मुक्ति सम्मुख ही दिखने लग जाती है । ऐसा परमानन्दकन्द देवचन्द्र को सुखकर अर्थात् देवो मे चन्द्रवत् वीतराग देव जिससे अनन्त सुख का

अनुभव करते है । धर्मात्मा व्रतीजन और मुनीश्वर उसी का ध्यान करते है ।

आत्मा जब आत्मध्यानलीन रहता है, तब कर्मबन्ध रुक जाता है, क्योंकि उसे अन्य कुछ भी कल्पना नहीं उठती । अग्नि मे ईन्धन न डाले तो स्वयं बुझ जाती है । वैसे ही मन इन्द्रियादि रागद्वेष के अभाव मे विषय ग्रहण करते हुए भी आत्मा को बाँधने मे असमर्थ रहते हैं । अतः परम सुख का स्थान आत्मगुणों मे लीनता है, अन्य साधनाएँ व्यर्थ हैं । यही मुख्य निर्भयपद है और सब तो केवल जन-श्रुतियाँ हैं । यही शान्तरस और मुक्तिपथ है, इसे ही कर्म-वृक्ष को छेदने वाला कुठार समझो । यह आत्मा ही ज्ञानवान् भगवान् श्रेष्ठ ज्ञानादि रत्नत्रयगुणयुक्त हैं, इसे ही भजो, इसी मे रमण करो, इसे ही जानने का प्रयत्न करो । किन्तु यह मार्ग सर्वमार्गों से दुर्गम है, विरले ही चलकर इष्ट स्थान पर पहुँचते हैं ।

हे ज्ञानिन् ! तुम स्वय ही अज्ञान के हेतु बने हुये हो । इसी से भव मे भ्रमण कर रहे हो ! पर के जड़ पुद्गलमय शरीरादि पदार्थों के प्रति कर्त्ता बुद्धि हो रही है । चित्त मे सुख सम्पत्ति पाने की तृष्णा लगी हुयी है । शुद्ध बुद्धि वाले मुनिजन आत्मा को जान उसी का ध्यान करते हुये निर्वाण प्राप्त करते है । यह आत्मा स्वय ही अपना रक्षक तब बनता है जब कि अपनी चेतनता-ज्ञान चेतना का अभिलाषी बनता है, अतः ज्ञान चेतना मे ही रमण करो ।

सम्यग्-दृष्टि जन भोगों का सयोग निकाचित कर्मवश मिलने पर भोगते तो हैं किन्तु गृहस्थ रहते हुये भी विरक्ति भाव है, आत्म भावना से भावित रहते हुये श्रेष्ठ आत्मज्ञान की कला की अर्चना-पूजा करते हैं । वे मोह कर्म की कारा को तोड़कर निकल जाते हैं । ससार के सुखों से परिचय नही रखते । उनसे प्रसन्न नहीं होते । अपने हृदय मे सम्यक् प्रकार से आत्म स्वरूप का ध्यान करते हुये कर्म के भ्रम को निश्चय ही नष्ट कर देते हैं ।

जिनके निकाचित भोग कर्म नहीं होते वे सर्वत्यागी बन जाते हैं । निःरोगी व्यक्ति के समान वे कड़वी औषधियो का काढा पीना निरर्थक

समझते है । आतुरता रहित चतुर व्यक्ति जैसे देह को नीरोग रखने के लिये कुपथ्य आहार विहार नहीं करते, वैसे ही वे त्यागीजन भी आत्मा को नीरोग रखने के लिये विषय कषायादि कुपथ्य का सेवन नही करते । दर्शन–मोह के अभाव में चेतन अपने चिन्मयमूर्त्ति चेतन का सुख ही स्मरण रखते है और भोगों का संयोग होने पर भी नहीं भोगते। ऐसे साधुजन सदैव ज्ञान को ही चित्त में धारण करते है ।

अन्तर तत्व को—आत्मा को देख लेने पर सूर्योदय होने से जैसे समस्त वस्तु प्रकाशित हो जाती है वैसे ही स्वपर का स्वरूप आत्मज्ञानी के सम्मुख प्रकाशित हो जाता है । वह ससार में रहते हुये भी जगत् की रीति–विषय भोग नहीं करते, त्याग देते है । अपने गुणों से उज्ज्वल बन जाते है । जब तक मोह की फेरी मे घुरता रहता है तभी तक भव के स्वप्न देखता हुआ उल्लसित होता रहता है । मोहनिद्रा से जागने पर तो अपनी यथार्थ ज्ञानमय स्थिति का भान हो जाता है । शुद्ध निरजन ध्रुव चेतनमय आत्मा स्वय में ही समाविष्ट हो जाता है ।

ऐसे आत्मज्ञान का जो अभ्यास नही करता वह कर्म के भ्रम को सदैव बढ़ाता रहता है, पाँचो इन्द्रियों के विषय प्रपच मे चित्त को फँसा कर इन्हीं से प्रेमरस की अपार वृद्धि कर लेता है । अर्थात् विषय की असीम तृष्णा हो जाती है । उसके कर्म की उपाधि ही ललाट पर भाग्य मे लिखी रहती है, इस जगत् मे नव नव वेश–शरीर धारण कर सुख–दु ख भोगता रहता है । वही आत्मा जब आत्मज्ञान पा लेता है तब स्वरूप मे रहकर परम आनन्द रस की प्राप्ति में असीम वृद्धि कर लेता है । क्योकि आत्मज्ञान की ज्योति से ही ऐसा परम रस स्फुरित होता है जिसमें अदृश्य रसायन है सो सर्व दोषों को नष्ट कर देता है । लोकालोक का विलोकन करने वाला अमल निर्मल तेज स्वरूप है । हठयोगादि की क्रिया बिना ही उसकी साधना की जा सकती है । जिन्होंने आत्मज्ञान के बल से ही प्रबल मोहदल के पटल को मूल से उखाड फेका, वे सम्पूर्ण विज्ञानवान् शान्त गुण पुञ्ज बन गये । ऐसे देवों मे चन्द्रवत् रत्नत्रयीमय आनन्द–कन्द श्री परमात्मदेव पर ही मेरी प्रतीति

प्रीति है, वहीं मेरा मन स्थिर हो गया है । ऐसा ग्रन्थकार श्रीमद् देवचन्द्र गणिवर्य महोदय कह रहे हैं ।

सम्यक्त्वी-आत्मा के लक्षण—जिसके हृदय में रागद्वेष-मोह नहीं, अपने स्वभाव मे ही रमता है, स्वय अनन्तज्ञानमय है । किसी पर-जड़ वस्तु पर प्रीति नहीं रखता, परमात्मस्वरूप का ध्यान करता है । आत्मा की सार सँभाल करता है वह शान्तरस में सराबोर रहने वाला सन्त है । टङ्कोत्कीर्ण अर्थात् सुडौल सुघटित रत्न के समान अभग ज्योति वाला, परब्रह्म के समान स्वज्ञान के कारण वही महान् है । वह निर्द्वन्द्व है, चेतना-ज्ञानमय होने से अबन्ध रहता है, शान्त स्कन्ध सा है, अम्लान ज्ञानगुण से सम्बन्धित है ।

आत्मा अबन्ध कब रहता है ? यह बताते हैं—

जो आत्मध्यान मे स्थिर बन आत्मा में ही विलीन बनते हैं, अपने ज्ञानादि गुणों मे स्थिरता ले आते हैं; वे आत्मा नवीन कर्म ग्रहण नहीं करते । नये-नये भवरूप वृक्ष को छेदने का यह तीक्ष्ण शस्त्र है । मुनीश्वरों के यही पवित्र ध्यान होता है, गुणवानो का यही शुद्ध स्वरूप ध्येय है । यह दुर्गम स्थान है, इसका पथ भी अगम है; किन्तु आत्म-ज्ञान मे लीन ही इसे पा सकता है । आत्मज्ञान विहीन व्यक्ति तो बाह्य क्रिया द्वारा व्यर्थ मन वचन तन को दण्डित करते रहते हैं । ज्ञान रहित बाह्य क्रिया तो निजगुणों की कैची, अथाह दोष भूमि, भव समुद्र तरने के लिये सछिद्र नावा जैसी है; इसे उत्तम तरणी-नाव नहीं कहा गया है । यह करनी-वाह्य क्रिया तो पर-शास्त्र वर्णित है । मोह नृपति का तरनी-नाव है । यह समुद्र पर घुमाने वाली मात्र है । पर-जड़ वस्तुओं से भरे भवन पर चढ़ने की निःश्रेणी-नीसरनी है । गुण का हरण करने वाली, अत्यन्त निष्ठुरता से सवर को हटा देने वाली है, इस करनी को नीच स्वभाव वाले-अर्थात् भोगार्थीजन पसन्द करते हैं; यह क्रोध दावानल प्रकट करने की अरणी-काष्ठ विशेष है । प्रायः ज्ञानहीन तपस्वी के क्रोध की ज्वाला जलती देखी जाती है ।

आत्मज्ञानहीन क्रिया कर्मबन्ध की कर्त्ता है, इसमे चेतना लगी रहे तो

वह दीन बन जाती है। जब चेतना ज्ञानमय बनती है तब समता भाव आता है और आत्मा अनन्त सुख से पुष्ट होता है।

शुद्ध बुद्ध मुक्त आत्मा, परमनिधान, निर्वाणस्थान, अनुपम ज्ञान युक्त, सदा प्रफुल्लित, कर्म स्कन्ध रहित, निर्द्वन्द्व, निर्बन्ध, कर्महीन, स्वगुणपीन, कलुषभावक्षीण, स्वभाव से गौरवशाली, चिन्मय, चेतनाखानि, अनन्त दर्शन शक्ति से भासमान, अनुभवज्ञान से ज्ञेय, अन्य-रूप रसगन्धादि रहित, अक्षर त्रिगुण-ज्ञान दर्शन चारित्र का स्वामी, देवों मे चन्द्रवत्, महानन्दधाम, परमामृतमय शान्त पद मे लयलीन है। वही ध्येय है, वही गेय है, वही आदेय है। ऐसा ही सर्व आत्माओ का स्वरूप है।

ऐसा श्रेष्ठ ब्रह्मस्वरूप चेतन, समता के अभाव मे चित्त-स्थिरता कहीं भी नहीं पाता और अनेक प्रकार के दुख शोकादि भोगता रहता है, जन्म मरणादि खेद से खिन्न रहता है। भव भ्रमण करता है। विरही के समान व्याकुल रहता है, क्योंकि स्वाभाविक सही असली विश्वस्त आश्रयदात्री धर्मपत्नी समता का वियोग हो रहा है। इससे सुख की अभिलाषा पूर्ण करने को कुमति के सग रमण करता है, किन्तु वह परभुक्त होने से विश्वस्त नही होती, वहाँ शुद्ध आन्तरिक प्रेम का अभाव होता है। अत यथेष्ट तुष्टि नहीं होती।

अहो! ज्ञान मित्र के अभाव मे आत्मा अत्यन्त दीन हो गया है, चित्त कहीं भी स्थिरता नहीं पाता और इस जगत् मे दिनरात भ्रमण करता है। आत्मा के परममित्र ज्ञान के वियोग में सुख कहाँ ? दुख मे पडा हुआ सुख की आकाक्षा तो करता है किन्तु वह सुख तो आत्मज्ञान के द्वारा ही आता है, ज्ञान होने पर ही पर-जड से सुख पाने की अभिलाषा नहीं होती।

उपसहार

आत्मज्ञान हो जाने पर आत्मा अस्थिरता त्याग कर स्थिर बन सकता है। परभाव मे भ्रमण नहीं करता। चित्त की वृत्ति को प्रवृत्ति से मोडकर निवृत्ति मे लगा सकता है। आत्मा के गुणगान मे तन्मय बन जाता है। जब तक चेतना आत्मा मे स्थिर रहेगी तब तक गुणत्रयी, ज्ञानदर्शनचारित्र का विस्मरण नहीं होगा। श्रीमद् देवचन्द्र गणि का कथन है कि आत्मदेव

की सेवा करके ही आत्मा इस संसार भ्रमण कराने वाले पर-काम क्रोध लोभ मोहादि की टेव-आदत को दूर कर सकेंगे ।

चेतन ज्ञानचेतना समताभाव युक्त, परमधर्म, ज्ञानादि गुणों का स्थान है । ज्ञानादि की आराधना से श्रेष्ठ निर्वाण पद प्राप्त करता है, अतः समता से प्रीति रखना उचित है ।

कवि का लघुता प्रदर्शन

मैंने इस ग्रन्थ मे जैनागम उल्लङ्घन कर जो कुछ विरुद्ध कह दिया हो, उसे वे पण्डितजन जिनकी बुद्धि सुबुद्धि है, वे शुद्ध कर कहें; क्योंकि छद्मस्थ द्वारा भूल हो जाना स्वाभाविक है ।

हे सज्जनो ! आप लोग हंस क्षीर न्याय से गुण ही ग्रहण करेंगे और दोष रूप नीर का परित्याग कर देंगे । शास्त्र का अर्थ और तत्त्व अभिज्ञात कर स्वीकार करेंगे; ऐसा विश्वास है । क्योंकि ज्ञानीजन बोधि-सम्यक्त्व प्राप्ति के लिये और निश्चय स्वरूप जानने के लिये जो शास्त्र-ग्रन्थ हैं उन्हें ही पढ़ते हैं; और परजड़ की सम्पत्ति का त्याग कर देते हैं अर्थात् भौतिक शास्त्र नहीं पढ़ते, उन्हें दूर से ही परित्याग कर देते हैं ।

पूर्व कवि के गुण वर्णन

अच्छे शास्त्रों के पाठक, आठमद के निवारक 'हंसराज' हंसों मे राजहंस जैसे है, उन हंसराज के बनाये एक सौ अट्ठाइस कलश रूप यह ग्रन्थ था । वे हंसराज ज्ञान के ज्ञाता और दर्शन-सम्यग्दर्शन के स्वामी थे, तत्त्व परीक्षक, तत्त्व के निधान थे । उनका रचित ग्रन्थ निर्मल सर्वग्रन्थों का शिरताज था । वह स्व-पर-भेदकारक, पर-ब्रह्मभाव का धारण कराने वाला था ! उसी का आशय लेते हुए यह ग्रन्थ भी शुद्ध श्रद्धावान् जनों के लिये सृजन किया गया है ।

मैंने यह ग्रन्थ हिन्दू धर्म के पालक नृपति की राजधानी बीकानेर में सुखपूर्वक चातुर्मास काल मे निवास करते हुये ज्ञानाभ्यासार्थ बनाया है ।

ग्रन्थ प्रशस्ति गुरुपरम्परा कथन

वर्तमान काल में विराजमान, सकलागमवेत्ता, विश्वविख्यात ज्ञानी, जिनेश्वर प्ररूपित धर्म पर स्थिर प्रतीतिवाले, अन्य मतों की बातों से

विरक्त, प्रथम दादा श्री जिनदत्तसूरीश्वर द्वारा कथित श्रेष्ठ कठोरतर 'खरतर' शुद्ध रीति से चारित्र के पालक, पुण्य प्रधान और सुमति के सागर श्री सुमतिसागर, साधुरंग रञ्जित श्री साधुरंग, और राजसार है, वे सर्वपाठक शिर शेखर, गुणवान्, भव्यजनों के छत्रसमान, आर्यदेश में विचरण करते है ।

उन्हीं के विनीत शिष्य, परभीतिरहित, साधुरीति नीति के धारक, सुन्दर गुणवान् आत्मज्ञानी, आत्मधर्मधर श्रेष्ठ सिद्धान्तों के वाचक अत्यन्त उपशान्तचित्त 'ज्ञानधर्म' नामक प्रवर हैं । उनके शिष्य मानसरोवर के हस सदृश 'राजहस' अपर नाम दीपचन्द, उत्तम प्रधान गुणों-ज्ञानदर्शनादि मे उद्यमवान् गुणगणों के धाम रूप हैं । उन्हीं के अन्तेवासी देवचन्द्र ने यह स्वचेतन के क्रीडाङ्गण सदृश 'द्रव्यप्रकाश' ग्रन्थ बनाया है ।

इस ग्रन्थ की रचना मे शुद्ध मन वाले श्री दुर्गादास ने मुझे अत्यन्त सहायता दी है, अपने मित्रों को समझाने के लिये इस ग्रन्थ की रचना करवाई है ।

इस शास्त्र के श्रोता आत्मस्वभावरत, क्रोध को दूर रखने वाले, श्री मिट्ठूमल, भैरवदास, भेउदास, मूलचन्द, ज्ञानचन्द, लेखराज, श्रेष्ठ पारसपाषाण के स्वभाव वाले पारसमल, सोमचन्द आदि जीव-तत्त्व पर दृढ आस्था रखने वाले ज्ञानादि त्रिगुणवान् अध्यात्म ध्यानी 'मुलतान' नामक नगर के निवासी सुजान श्रावक है । उन्हीं का धर्मप्रेम इस ग्रन्थ की रचना में प्रेरक है । इसमें गुण-पर्यायधर षड्द्रव्यों का ज्ञान है ।

जो सरस अध्यात्मशैली को मानते हैं, वे ही वास्तविक जैन है । वे ही इस ग्रन्थ का बाचन मनन ज्ञानामृत रस-पान के लिये करेंगे । गुणों को व लक्षणों को पहचानकर हेय का त्याग कर, शुद्ध चिदानन्द, चिन्मय, अगम ब्रह्मतत्त्व को ग्रहण करेंगे, वही आदेय है, शेष सभी हेय हैं । शुद्धनय से परमात्मा का स्वरूप ही आत्मा का स्वरूप है । इस स्वरूप की जानकारी ही मोक्ष मार्ग है । इसे जानने वाला पर-मोह वश नहीं होता फलत ससार भव भ्रमण नहीं करता । ग्रन्थ का मूल बीज उपादान यही है ।

भय लेश्या के भेद, शुद्ध सयम अर्थात् १७६७ में विक्रम संवत् का मान ऐसे समझना-भय के भेद ७, लेश्या के भेद ६ और आश्रव का छेद

स्वरूप सयम के भेद १७ । **अर्थात्** १७६७ प्रथम जिनेश्वर श्री ऋषभदेव के मोक्ष–निर्वाण–माघ कृष्ण त्रयोदशी के शुभ दिन यह ग्रन्थ रचा गया; इससे मेरे आत्म सन्तोष मे वृद्धि हुयी ।

ग्रन्थ महिमा

यह ग्रन्थ गुणनिधान, निर्वाण साधक होने से निर्वाण स्वरूप है । इसमे सत्य और अधिक उदार श्री जिनेन्द्र भगवान् के वचन हैं । मानियो के मद का भञ्जक, मिथ्यामति के मल को शुद्ध करने के लिये मज्जन–ज्ञानरूप, ज्ञानदृष्टि खोलने की अञ्जनशलाका रूप सुखदायी है । इसमे आत्माराम का रमण, दुख–परभाव का दमन, पर–पुद्गल जड़ का वमन, अपार पारावार–समुद्र सा अथाह ज्ञान है । सन्तों के लिये स्वादिष्ट शान्तरस पूर्ण, शुद्धस्याद्वाद का मार्ग है । अन्य किसी विषाद या विसवाद का इसमें नाम भी नहीं है । यह ज्ञानियों के हृदय का हार है ।

इसमें स्याद्वाद युक्त और यथार्थ षड्द्रव्य का विवेचन है । यह "द्रव्य–प्रकाश' नामक सत्य ज्ञान–ग्रन्थ है ।

इसके पढ़ने से भौतिक—पौद्गलिक वस्तुओं पर प्रतीति–विश्वास हटता है । पुण्यपाप की भीति नष्ट होती है । रागद्वेष की रीति नहीं, मात्र आत्म–विलास है । साधक की सिद्धि, समझने की बुद्धि, और आत्मा को प्रसन्न करने की समृद्धि है, ज्ञान भानु का उदय है, सज्जनों को इष्ट, द्वितीया के चन्द्र के समान दिन दिन बढ़ने वाला उपशमभाव का अधिक उल्लास है । अन्यमतों से स्वतन्त्र जैन आगमों मे द्रव्यों की मान्यता स्वरूप 'द्रव्यप्रकाश' नामक इस ग्रन्थ में द्रव्यों को प्रकाशित करने का प्रयास किया गया है । ऐसे ग्रन्थ को 'देवचन्द्र' वन्दन करता है ।

यह ज्ञान, ध्यान, सुख–स्थान और मुक्ति का मार्ग है । इस प्रकार जीवद्वार और उसके अन्तर्गत मोक्षमार्ग पूर्ण होने पर ग्रन्थ भी सम्पूर्ण हो गया ।

इति श्रीदेवचन्द्रगणि विरचित 'द्रव्यप्रकाश' ब्रजभाषा ग्रन्थ तृतीय अधिकार सम्पूर्णम् । शुभम् भूयात् ।

प्रमाद दोष से जो कहा, श्री जिनवचन विरुद्ध ।
कर अनुग्रह मुझ पर सदा, सज्जन करलें शुद्ध ॥